भक्ति साहित्य में विम्बयोजना

(Displays in Devotional Literature)

सूरज कुमार

भक्ति साहित्य में विम्बयोजना

भक्ति साहित्य में विम्बयोजना

(Displays in Devotional Literature)

सूरज कुमार

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5586-1

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भक्तिकाव्य की विभिन्न प्रणलियों की अपनी-अलग अलग विशेषताएँ हैं, पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है, पर निर्गुणोपासक कबीर भी अपने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्‌घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप

लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं, जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करनेवाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठलनाथ ने कृष्णलीलागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	साहित्य में भक्ति भावना का उदय	7
	भक्ति काल के कवियों का विभाजन	11
	कृष्ण काव्यधारा के प्रमुख कवि	15
	सगुण भक्ति काव्य की विशेषता	16
	भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ	18
	सामाजिक परिस्थितियां	20
	बिंब क्या है?	21
	बिम्ब-विधान	22
2.	**कबीर साहित्य में बिंब योजना**	**25**
	जन्म	25
	कबीर की शिक्षा	26
	कबीर की गुरु दीक्षा	26
	कबीर दास का धर्म	27
	कबीर की मृत्यु	27
	अवधू और अवधूत	32
	पंचमेल खिचड़ी भाषा	35

कबीरदास का भक्त रूप 38
हिन्दू-मुस्लिम एकता 41
कबीरदास की महिमा 43
कबीर जी के काव्यिक विशेषताएँ 43
3. मीरा साहित्य में बिंब योजना 48
कुल एवं जन्म 48
बाल्यावस्था 49
शिक्षा 51
विवाह संबंध 51
मीराबाई की साधु-संतों से संगत 52
मीरा के प्रमुख पद 55
4. रसखान के साहित्य में बिंब योजना 79
जीवन परिचय 79
जन्म स्थान 80
नाम एवं उपनाम 80
बाल्यकाल तथा शिक्षा 81
मथुरा आगमन 81
मृत्यु 84
साहित्यिक विशेषताएँ 85
होली वर्णन 85
कला पक्ष 85
भाव पक्ष 86
रस संयोजन 86
भक्ति भावना 87
छंदोयोजना 94
सवैया छंद 95
अलंकार-योजना 98
5. दादू दयाल के साहित्य में बिंब योजना 112
जीवन परिचय 112
विभिन्न मतों के अनुसार 113
जन्म 114

पारिवारिक जीवन 114
दादू के गुरु 117
निर्गुण संत 120
दादू के शिष्य 120
दादू दयाल के विरोधी 121
6. रैदास के साहित्य में बिंब योजना 125
आरंभिक जीवन 129
रविदास की प्रारंभिक शिक्षा 130
वैवाहिक जीवन 131
बाद का जीवन 131
समाज पर प्रभाव 136
7. तुलसी साहित्य में बिंब योजना 139
जीवन परिचय 139
रचना संसार 142
माया का स्वरूप 148
गोस्वामी तुलसीदास की भाषा 148
कुंभ उत्सव पर एक कार्यक्रम 153
उनके पिता के मौत के समय की घटना 153
8. सूर साहित्य में बिंब योजना 156
जन्म 156
पुष्टिमार्ग में दीक्षा 157
विट्ठलनाथ का सत्संग 158
सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में मतभेद 159
सूरदास की रचनाएँ 160
सूर सारावली 160
साहित्य लहरी 161
सूरसागर 161
भावपक्ष 162
काव्य-शैली 164
सूरदास की भक्ति 165

दास्य भाव भक्ति 166
9. नरसी मेहता के साहित्य में बिंब योजना 169
जीवनवृत्त 170
शादी की घटना 173
रचनाएँ 174
कृष्णभक्ति 175

1

विषय बोध

साहित्य सदैव अपने समाज का दर्पण रहा है। समय विशेष की सामाजिक परिस्थितियाँ तत्कालीन साहित्य की दिशा निर्धारित करने में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। भारतीय इतिहास का उत्तर-मध्यकाल भी इसका अपवाद नहीं है। इस समय तक आते-आते बाहर से आने वाले मुसलमान शाषकों का देश के बहुत बड़े भाग पर आधिपत्य हो चुका था। इसका प्रभाव सिर्फ राजनैतिक न रह कर सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी महसूस किया जाने लगा था। अनेक हिन्दू (जिनमें मुख्यतय: दलित व शिषित वर्ग शामिल था) विभिन्न कारणों से इस्लाम स्वीकार कर रहे थे। अत: हिन्दू जनता के लिये अपने शौर्य व धर्म पर अभिमान करने का कोई कारण नहीं बचा था। अपितु इस्लाम के बढ़ते प्रभाव ने प्रबुद्ध हिन्दू धर्मोपदेशकों को अपने धर्म में सुधार के विषय में सोचने पर मजबूर कर दिया था ताकि सामान्य जनता को धर्म-विमुख होने से बचाया जा सके।

यद्यपि भक्ति संबंधी कुछ रचनाएँ पूर्व में होती चली आ रहीं थीं जिनमें जयदेव का गीत-गोविंद और विद्यापति के मैथिली गीत बहुत लोकप्रिय भी हुए थे, परन्तु अब इन्होंने अधिक व्यवस्थित रूप धारण कर लिया। भक्ति की यह धारा दक्षिण भारत से आरंभ हुई और धीरे-धीरे इसने सारे भारतवर्ष को अपने में समेट लिया। सामान्य हिन्दू ही नहीं अपितु सहृदय मुस्लिम जनता भी इसके प्रभाव से अछूती न रह सकी। इसी समय प्रेममार्गी सूफी मत का भी भारत में प्रवेश हुआ और उसने भी हिन्दू-मुस्लिम दोनों वर्गों के लोगों को प्रभावित किया।

भक्ति की इस पावन सुरसरि में एक ओर निर्गुण ब्रह्म को मानने वाले थे तो दूसरी ओर सगुण ईश्वर के अनन्य उपासक। आदिगुरु शंकराचार्य ने यद्यपि बहुत पहले ही अद्वैतवाद के रूप में निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट करने की शुरुआत कर दी थी और उत्तर में नाथ और सिद्ध योगी भी सगुण भक्ति के विरुद्ध अपने तरीके से प्रचार कर रहे थे, परन्तु सर्वप्रथम सगुण भक्ति ने ही जनसामान्य के बीच एक आंदोलन की तरह अपनी छाप छोड़ी। इस क्रम में श्री रामानुजाचार्य ने ईसा की ग्यारहवीं सदी में सगुण भक्ति का शास्त्रीय ढंग से निरूपण किया। इन्हीं की शिष्य परंपरा में आगे चलकर रामानंद (पन्द्रहवीं शताब्दी) हुए जिन्होंने राम-भक्ति को प्रधान मानते हुए एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया। इसी प्रकार गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य (14वीं शताब्दी) ने द्वैतवाद पर आधारित वैष्णव संप्रदाय की नींव रखी तो विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक स्वामी वल्लभाचार्य ने प्रेमलक्षणा कृष्ण-भक्ति को श्रेष्ठ माना। सगुणोपासक भक्त-कवियों में जहाँ राम-भक्ति धारा में गोस्वामी तुलसीदास और संत नाभादास जैसे नाम हैं, वहीं कृष्ण-भक्ति धारा में सूरदास, रसखान, मीरा आदि अनेक भक्त-कवि हैं।

शंकराचार्य जी के अद्वैतवाद से आरंभ हुई निर्गुण भक्ति धारा के भी दो प्रमुख उपभेद सामने आये—ज्ञानमार्ग और प्रेममार्ग। ज्ञानमार्ग का प्रवर्तन जहाँ प्राचीन भारतीय ब्रह्मवाद व वेदांत पर आधारित था, वहीं प्रेममार्ग सूफी फकीरों के प्रभाव से अस्तित्व में आया। ज्ञानमार्गी निर्गुण शाखा का उद्‌भव महाराष्ट्र के प्रमुख संत नामदेव जी से माना जा सकता है पर इसका पूर्ण प्रसार हमें सर्वप्रथम कबीर में देखने को मिलता है। ज्ञानमार्गी संतों में कबीर, रैदास (रविदास), गुरु नानक, दादूदयाल आदि प्रमुख हैं तो प्रेममार्गी शाखा में मलिक मुहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन आदि अनेक सूफी कवि हैं।

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञान संपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोक विमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्ति आंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार

वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार-प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा में आनेवाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँचनीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को मानने वाले दो भक्तों—कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है, बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी, जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था, जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए—ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे

के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ–रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में ख्यायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधाना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट

है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदाय संगत बातें हैं1 इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उसमान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्तिशाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं, जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करनेवाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठलनाथ ने कृष्णलीलागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने

विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी, जो अपने स्वत:स्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोतिल करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान के मधुर रूप का उद्घाटन किया पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्णभक्तिकाव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाजबोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्व को महत्त्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोकचेतना पर विशेष बल दिया। एक ने भगवान की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को प्रकाशित किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास के काव्य में प्रकट हुआ, जो विद्याविद् ग्रियर्सन की दृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्त्व भगवान के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वय भावना है, जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है। उसमें भगवान राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामाजिक और वैयक्तिक कर्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करने वाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रतिरूप है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पणभाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्त्व उसक धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

साहित्य में भक्ति भावना का उदय

गुजरात के स्वामी माधवाचार्य (संवत् 1254-1333) ने द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय (ब्राह्म सम्प्रदाय) चलाया जिसकी ओर भी लोगों का झुकाव हुआ। इसके साथ ही द्वैताद्वैतवाद (सनकादि सम्प्रदाय) के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु के स्थान पर की तथा लक्ष्मी के स्थान पर राधा को रख कर देश के पूर्व भाग में प्रचलित कृष्ण-राधा (जयदेव, विद्यापती) की प्रेम कथाओं को नवीन रूप एवं उत्साह प्रदान किया। वल्लभाचार्य जी ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार का कार्य किया। जगत्प्रसिद्ध सूरदास भी इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि के मुख्य कारण कहे जा सकते हैं। सूरदास ने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा लेकर कृष्ण की प्रेमलीलाओं एवं बाल क्रीड़ाओं को भक्ति के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया। माधुर्यभाव की इन लीलाओं ने जनता को बहुत रसमग्न किया। इस तरह दो मुख्य सम्प्रदाय सगुण भक्ति के अन्तर्गत अपने पूरे उत्कर्ष पर इस काल में विद्यमान थे–रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा।

इसके अतिरिक्त भी दो शाखाएँ प्रचलित हुई–प्रेममार्ग (सूफी) तथा निर्गुणमार्ग शाखा।

सगुण धारा के इस विकास क्रम के समानांतर ही बाहर से आए हुए मुसलमान सूफी संत भी अपने विचारों को सामान्य जनता में फैला रहे थे। मुसलमानों के इस लम्बे प्रवास के कारण भारतीय तथा मुस्लिम संस्कृति का आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था। फिर इन सूफी संतों ने भी अपने विचारों को जनसाधारण में व्याप्त करने की, अपने मतों को भारतीय आख्यानों में, भारतीय परिवेश में, यहीं की भाषा-शैली लेकर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। इनके मतों में कट्टरता का कहीं भी आभास नहीं था। इनका मुख्य सिद्धान्त प्रेम तत्त्व था। यद्यपि प्रेम के माध्यम से ईश्वर को पाने के लिए किए जाने वाले प्रयास–(विधि) में कुछ अन्तर अवश्य था तथापि इनके प्रेम तत्त्व के प्रतिपादन एवं प्रसार शैली ने लोगों को आकर्षित किया। इन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन भी किया जिसे कुछ लोगों ने अद्वैतवाद ही मान लिया, जो कि

उचित नहीं है। हजरत निजामुद्दीन चिश्ती, सलीम चिश्ती आदि अनेक संतों ने हिन्दू-मुसलमान सबका आदर प्राप्त किया। इस सूफी मत में भी चार धाराएँ मुख्यतः चलीं-

1. चिश्ती सम्प्रदाय 2. कादरी सम्प्रदाय 3. सुहरावर्दी सम्प्रदाय 4. नक्शबंदिया सम्प्रदाय।

जायसी, कुतुबन, मंझन आदि प्रसिद्ध (साहित्यकार) कवियों ने हिन्दी साहित्य को अमूल्य साहित्य रत्न भेंट किए। निर्गुणज्ञानाश्रयी शाखा पर भी इनका प्रभाव पड़ा तथा हिन्दू-मुसलमानों के भेद को मिटाने की बातें कही जाने लगीं। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें 'हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वाला कहा।

रामानन्द जी उत्तर भारत में रामभक्ति को लेकर आए थे। उनके सिद्धान्तों में इस भक्ति का स्वरूप दो प्रकार का था–राम का निर्गुण रूपय राम का अवतारी रूप। ये दोनों मत एक साथ ही थे। निर्गुण रूप में राम का नाम तो होता पर उसे 'दशरथ-सुत' की कथा से सम्बद्ध नहीं किया जाता। रामानन्द ने देखा कि भगवान की शरण में आने के उपरान्त छूआ-छूत, जाँत-पाँत आदि का कोई बन्धन नहीं रह जाता अतः संस्कृत के पण्डित और उच्च ब्राह्मण कुलोद्भूत होने के पश्चात भी उन्होंने देश-भाषा में कविता लिखी और सबको (ब्राह्मण से लेकर निम्नजाति वालों तक को) राम-नाम का उपदेश दिया। कबीर इन्हीं के शिष्य थे। कबीर, रैदास, धन्ना, सेना, पीपा आदि इनके शिष्यों ने इस मत को प्रसिद्ध किया। रामनाम के मंत्र को लेकर चलने वाले अक्खड़-फक्कड़ संतों ने भेद-भाव भुला कर सबको प्रेमपूर्वक गले लगाने की बात कही। वैदिक कर्मकाण्ड के द्वारा फैले हुए आडंबरों एवं बाह्य विधि-विधानों के त्याग पर बल देते हुए राम नाम का प्रेम, श्रद्धा से स्मरण करने की सरल पद्धति और सहज समाधि का प्रसार किया। कबीर में तीन प्रमुख धाराएँ समाहित दिखाई देती हैं–

1. उत्तरपूर्व के नाथ-पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप 2. पश्चिम का सूफी मतवाद और 3. दक्षिण का वेदान्तभावित वैष्णवधर्म

हठयोग का कुछ प्रभाव इन पर अवश्य है, परन्तु मुख्यतः प्रेम तत्त्व पर ही बल दिया गया है। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में इन संतों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इन संतों के साहित्य में हमें तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समस्त स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से भी इनका

योग बहुत है। सहज प्रेम की भाषा पर बल देने के कारण लोगों का इन पर भी बहुत झुकाव रहा। कबीर की मृत्यु के कुछ समय बाद इसमें भी सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। अन्य शाखाओं के समान इसका महत्त्व भी भक्तिकाल को पूर्ण बनाने में है।

ये चारों शाखाएँ भक्तिकाल या मध्यकाल के पूर्व भाग में अपने उत्कर्ष में थीं। इन चारों ही शाखाओं ने हिन्दी साहित्य को बड़े-बड़े व्यक्तित्व प्रदान किए जैसे–सूर, तुलसी, कबीर आदि। अपने भक्तिभाव की चरम उत्कृष्टता के लिए भी ये जनता के मन-मानस पर आधिपत्य कर सके। आज भी ये श्रद्धा एवं आदर से देखे जाते हैं। यद्यपि कालान्तर में इन सम्प्रदायों में भी अनैतिकता के तत्त्वों के प्रवेश के कारण शुद्धता नहीं रह गई थी तथा इनका पतन भी धीरे-धीरे हो गया था तथापि जो अदृभुत मणियाँ इस काल में प्राप्त हुई, वे किसी भी अन्य काल में प्राप्त नहीं हो सकीं, यह निःसंदेह कहा जा सकता है। भक्तिकाल में हर प्रकार से कला समृद्धि हुई, नवीन वातावरण का जन्म हुआ, जन-जन में भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के स्रोत फूट पड़े, ऐसा काल वस्तुतः साहित्येतिहास का 'स्वर्णकाल' कहलाने योग्य है।

सम्प्रदायों से मुक्त रूप में भी भक्ति का प्रचार था। मीरा, रसखान, रहीम का नाम उतनी ही श्रद्धा से लिया जाता है, जितना कि किसी सम्प्रदायबद्ध संत कवि का। इस तरह कहा जा सकता है कि जनता में सम्प्रदाय से भी अधिक शुद्ध भक्ति-भाव की महत्ता थी। ऐकान्तिक भक्ति ने समष्टिगत रूप धारण किया और जन-जन के हृदय को आप्लावित कर दिया।

तुलसी की मृत्य (1680 ई.) के कुछ समय बाद ही रीतिकाल के आगमन के चिन्ह दिखाई देने लगे थे। राम के मर्यादावादी रूप का सामान्यीकरण करके उसमें भी लौकिक लीलाओं का समावेश कर दिया गया। कृष्ण की प्रेम भक्ति (मूलक) जागृत करने वाी लीलाओं में से कृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं को ग्रहण करके उसका अश्लील चित्रण होने लगा था। यह स्थिति रीतिकाल में अपने घोरतम रूप में पहुँच गई थी। इसीलिए कहा गया था 'राधिका कन्हाई सुमरिन को बहानो है।' रामभक्ति का जो रूप तुलसी ने अंकित किया था, यद्यपि वह धूमिल नहीं हुआ तथापि राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने श्रृंगारिकता के वातावरण में उसे विस्मृत कर दिया था। इस तरह धीरे-धीरे ई.1680-90 के आस-पास भक्तिकाल समाप्त हो गया।

कालांतर में यद्यपि जनता में भक्तिभाव विद्यमान रहे तथापि न तो इस (तुलसी आदि के समान) को महान विभूति पैदा हो सकी और न कोई बहुत अधिक लोकप्रिय ग्रंथ ही लिखा जा सका।

भक्ति युग का यह आन्दोलन बहुत बड़ा आन्दोलन था एवं ऐसा आन्दोलन भारत ने इससे पहले कभी नहीं देखा था। इस साहित्य ने जनता के हृदय में श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, जिजीविषा जागृत की, साहस, उल्लास, प्रेम भाव प्रदान किया, अपनी मातृभूमि, इसकी संस्कृति का विराट एवं उत्साहवर्धक चित्र प्रस्तुत किया, लोगों के हृदय में देशप्रेम भी प्रकारंतर से इसी कारण जागृत हुआ।

भक्तियुग में इस तरह मुख्यत: भक्तिपरक साहित्य की रचना हुई, परन्तु यह भी पूर्णतया नहीं कहा जा सकता कि किसी अन्य प्रकार का साहित्य उस काल में था ही नहीं। यह अकबर का शासन काल था तथा उसके दरबार में अनेक कवि थे। अब्दुर्रहीम खानखाना आदि की राजप्रसस्तिपरक कुछ कविताएँ मिलती हैं। अकबर ने साहित्य की पारम्परिक धारा को भी प्रोत्साहन दिया था अत: काव्य का वह रूप भी कृपाराम की 'हिततरंगिणी' बीरबल के फुटकर दोहों आदि में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त नीति परक दोहे आदि लिखे गए।

एक और महान् कवि आचार्य केशव को शुक्ल जी ने भक्तिकाल के फुटकर कवियों में रखा है। यह कार्य उन्होंने केशव के रचनाकाल के आधार पर किया है। केशव की अलंकार, छंद, रस के लक्षणों–उदाहरणों को प्रस्तुत करने वाली तीन महत्त्वपूर्ण रचनाओं–कवि प्रिया, रसिक प्रिया तथा रामचन्द्रिका को भक्ति से भिन्न मान कर भी उन्हें इस युग के फुटकर कवियों में शुक्ल जी ने रखा है परन्तु यह उचित नहीं है। केशव का आचार्यत्त्व पूरे रीतिकाल को गौरव प्रदान करता है। रीति–लक्षण–उदाहरण के निर्धारण की परम्परा भी सर्वप्रथम उन्हीं में दिखाई देती है, चाहें रीतिकाल में इस निर्धारण के लिए केशव को रीतिकाल से पृथक करना अनुचित है अत: उन्हें भक्तियुग में रखना उचित नहीं है।

भक्तिकाल में ललित कलाओं का उत्कर्ष दिखाई देता है। श्रीकृष्ण–राधा की विभिन्न लीलाओं के चित्र इस काल में मिलते हैं, कोमल एवं सरस भावों को अभिव्यक्त करने वाली अनेक मूर्त्तियाँ इस काल में मिलती है। मूर्तिकला का बहुत विकास इस युग में बहुत अधिक हुआ था। वास्तुकला, चित्रकला में

मुस्लिम (ईरानी) शैली का समन्वय भारतीय शैली में हुआ फलतः मेहराबें, गुम्बद आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देने लगा। मध्यकाल में राजस्थानी शैली अधिक लोकप्रिय थी। मानवीय चित्रों के अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्यों का अंकन, दरबारी जीवन के विविध प्रसंग भी भित्ति चित्र इस युग में प्राप्त होते हैं। 'कुतुबमीनार', 'अढ़ाई दिन का झौंपड़ा' आदि ऐतिहासिक वास्तुकला के अप्रतिम नमूने हैं।

इस तरह साहित्य के साथ ललित कलाओं का विकास भी बहुत अधिक हुआ था। संगीत के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। कृष्णलीलाओं का गायन, साखी, रमैनी, पद को राग निबद्ध करने की जैसी योजना इस काल में है। वैसी अन्यत्र प्राप्य नहीं है। सूर और तुलसी साहित्य में अनेक राग-रागनियों का वर्णन आता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि भक्ति के उद्भव एवं विकास के समय जो कुछ भी भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास को प्राप्त हुआ, वह स्वयं में अद्भुत, अनुपम एवं दुर्लभ है। अंततः हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में कह सकते है–'समूचे भारतीय इतिहास में यह अपने ग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। भक्ति का यह नया इतिहास मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगव-भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान।'

भक्ति काल के कवियों का विभाजन

भक्ति काल के कवि मुख्यतः दो धाराओं में विभाजित हैं–1. निर्गुण काव्य धारा, 2. सगुण काव्य धारा

निर्गुण काव्य धारा के कवि

ईश्वर ने निर्गुण अर्थात् निराकार रूप की आराधना करते थे। इनमें भी दो धाराएँ थीं–(1) संत काव्य धारा (2) सूफी काव्य धारा।

संत काव्य धारा के प्रमुख कवि

कबीरदास–कबीर सन्त परम्परा के प्रमुख और प्रतिनिधि कवि है। इनके जन्म के विषय मे प्रामाणित साक्ष्य उपलब्ध नही है। जनश्रुतियों के अनुसार

कबीर का जन्म 1398 ई. मे और मृत्यु 1518 ई. मे हुई। कबीर नीरु और नीमा नामक जुलाहा दम्पति को तालाब की किनारे मिले थे। इन्होंने बच्चे का लालन–पालन किया। यही बच्चा बाद मे बडा होकर कबीर के नाम से जाना गया। कबीर के गुरु रामानन्द थे। कबीर अनपढ थे। उनके शिष्यो ने कबीर की वाणी को सजोकर रखा तथा बाद मे पुस्तक का आकार दिया। इनकी रचना 'बीजक' नाम से जानी जाती है। कबीर ने जीवन भर धार्मिक तथा सामाजिक अंधविश्वासो का तीखा विरोध किया तथा समाजिक बुराइयों का भी विरोध किया।

रामानन्द–रामानन्द जी के आविर्भाव काल, निधन काल, जीवन चरित आदि के संबंध मे कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। ये लगभग 15 वीं शती के उत्तार्द्ध मे हुए थे। इनकी शिक्षा–दीक्षा काशी मे हुआ। ये रामानुजाचार्य परम्परा के शिष्य थे।

नामदेव–ये महाराष्ट्र के भक्त के रुप मे प्रसिद्ध है। सतारा जिले के नरसी बैनी गांव मे सन् 1267 ई. मे इनका जन्म हुआ था। इनके गुरु का नाम सन्त विसोवा खेवर था। नामदेव मराठी और हिंदी दोनो भाषाओ मे भजन गाते थे। उन्होने हिन्दू और मुस्लमान की मिथ्या रूढियों का विरोध किया।

सूफी काव्य धारा के प्रमुख कवि

मलिक मुहम्मद जायसी–इनका जन्म 1492 ई. के लगभग हुआ था। रायबरेली जिले के जायस नामक स्थान पर जन्म लेने वाले मलिक मुहम्मद जायसी के बचपन का नाम मलिक शेख मुंसफी था। जायस के निवासी होने कारण वे जायसी कहलाते थे। मलिक मुहम्मद जायसी सूफी काव्य धारा (प्रेममार्गी शाखा) के प्रतिनिधि कवि है। इन्होंने पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, चित्ररेखा आदि रचनाएँ लिखीं।

मुल्ला दाउद–सूफी कवि मुल्ला दाउद की रचना 'चन्दायन' है। इस ग्रंथ की रचना 1379 ई. मे हुई थी। यह प्रेमाख्यानक परम्परा का दूसरा काव्य है।

कुतुबन–कुतुबन की रचना 'मृगावती' है। जिसका रचना काल 1503 ई. है। ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे तथा जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। यह ग्रन्थ अवधी भाषा मे लिखा गया है।

निर्गुण काव्य की विशेषता

जैसा कि आप सभी जानते हैं भक्तिकाल में काव्य की दो प्रधान धाराएँ प्रचलित हुई–निर्गुण काव्यधारा और सगुण काव्यधारा, निर्गुण काव्यधारा की भी दो शाखाएँ बनी–ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा।

ज्ञानाश्रयी शाखा को संतों ने पोषित किया और नतीजा यह हुआ कि काव्य की यह धारा जन–जन में जीवन को पवित्र बनाने वाली सिद्ध हुई। डॉ. श्यामसुंदर दास का मत है–संत कवियों में अपनी निर्गुण भक्ति द्वारा जनता के हृदय में अपूर्व आशा उत्पन्न की। उसे कुछ अधिक समय तक विप्पति की अथाह जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी। संत कवियों ने समाज में फैले हुए विभिन्न आडम्बरों, रुढियों, अंध विश्वासों आदि का पर्दाफाश किया और जनता के सच्चे एवं अच्छे मार्ग की ओर अग्रसर किया।

ज्ञानाश्रयी शाखा या संत काव्यधारा में हम निम्नलिखित विशेषताएँ या प्रवृत्तियों को देख सकते हैं–

निजी धार्मिक सिद्धांतों का अभाव–संत साहित्य में निजी सिद्धांतों का अभाव है। ब्रह्म, जीव, माया, संसार आदि के संबंध में इन कवियों ने जिन बातों का वर्णन किया है, वे पूर्ववर्ती आचार्यो और कवियों की देन है।

आचार पक्ष की प्रधानता–संत कवियों ने अपने काव्यों में असंयम, अनाचार और आडम्बर का विरोध किया है। इनमे खानपान, अचार–विचार, शुद्धता और सदाचार को विशेष महत्त्व दिया गया है। इनकी सहज साधना और सहज आचारों को पालन करने की साधना है। इन्ही आचारों के आधार पर अनेक पंथ बने हैं। आज भारत में नानक, कवीर पंथ, दादू पंथ आदि बने हैं। इनमें मौलिक एकता है।

गुरु के प्रति श्रद्धा–संत कवियों ने अपनी रचनाओं में गुरु को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। इन्होने ईश्वर प्राप्ति हेतु सद्‌गुरु को आवश्यक बताया है। सद्‌गुरु अनंत प्रकार से शिष्य का उपकार करता है। वह अपनी अध्यात्मिक शक्ति के सहारे जीव को ब्रह्म का अलौकिक दर्शन कराता हगे।

निम्न जाति के कवि–निर्गुण काव्यधारा के अधिकांश कवि निम्न जाति में उत्पन्न हुए। समाज के निचले स्तर की गिरी जातियों में जन्म लेने के कारण इन्हें उंच नीच संबंधी कटु अनुभव था। इन कवियों में कबीर जुलाहा, रैदास चमार, सेन नाई, दादू धुनिया, सदन कसाई, नाभा दास डोम के घर में जन्मे थे।

सामाजिक कुरीतियों के विरोधी–इन कवियों ने एक स्वर से जाति पाति उंच नीच आदि कुरूतियों का व्यापक पैमाने पर विरोध किया है। समाज के निचले स्तर से आने के कारण इन कवियों के लिए ज्ञान प्राप्ति के दरवाजे बंद थे। ज्ञान की प्यास बुझाने हेतु इन कवियों ने अनेक दरवाजे खटखटाया, किन्तु कोई भी पंडित या महात्मा इन्हें शिक्षा देने के लिए तैयार न था।

शिक्षा की कमी–संत कवि अधिक पढ़े–लिखे नहीं थे। कबीर के संबंध में तो यहाँ तक कहा जाता है–

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिक जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात।

इसका परिणाम यह हुआ है कि इन कवियों के ज्ञान का भण्डार पंडितों, महात्माओं, संतों तथा स्थान भ्रमण की देन है। इनके काव्य में मन की गुनी, कान की सुनी और आँख की देखि बातों की चर्चा है।

काव्य रूप–निर्गुण धारा का समस्त साहित्य मुक्तक रूप में लिखा गया है। इनमें प्रबंध का अभाव है। अधिकाँश रचनाएँ दोहे और पद में लिखी गयी है। इन कवियों में अक्कहद पन और मस्तमौला स्वभाव के अनुकूल पद और दोहे स्वछंद होते थे।

भाषा–संत कवियों की भाषा खिचड़ी या सधुक्कड़ी है। ये एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटक-भटक कर स्थान-स्थान की भाषा ग्रहण करते थे, कारण इनका भाषा भंडार विविधता से भरा था। इन सधुक्कड़ी भाषा अनगढ़ और अपरिमार्जित है। कहीं-कहीं गूढ़ ज्ञान के कारण भाषा क्लिष्ट हो गयी है, किन्तु यह सत्य है कि इन कवियों का भाषा पर जबरदस्त अधिकार है।

सगुण काव्य धारा

सगुण काव्य धारा के कवि ईश्वर के सगुण अर्थात् साकार रूप की आराधना करते थे। इनमें भी मुख्यतः दो शाखाएँ थीं–(a) राम भक्ति काव्य धारा (b) कृष्ण भक्ति काव्य धारा।

राम काव्य धारा के प्रमुख कवि

तुलसीदास–तुलसीदास को किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। इन्होंने रामकथा को अवधी रूप दे कर घर घर मे प्रसारित कर दिया। इनका जन्म काल विवादित रहा है। इनके कुल 13 ग्रंथ मिलते हैं–दोहावली 2.

कवितावली 3. गीतावली 4.कृष्ण गीतावली 5. विनय पत्रिका 6. राम लला नहछू 7.वैराग्य-संदीपनी 8.बरवै रामायण 9. पार्वती मंगल 10. जानकी मंगल 11.हनुमान बाहुक 12. रामाज्ञा प्रश्न 13. रामचरितमानस।

नाभादास–अग्रदास जी के शिष्य, बड़े भक्त और साधुसेवी थे। संवत् 1657 के लगभग वर्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे। इनकी 3 रचनाए उपलब्ध हैं–रामाष्टयाम 2. भक्तमाल 3. रामचरित संग्रह।

स्वामी अग्रदास–अग्रदास जी कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे, जो रामानंद की परंपरा के थे। सन् 1556 के लगभग वर्तमान थे। इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता है। प्रमुख कृतियाँ है–1. हितोपदेश उपखाणाँ बावनी ध्यानमंजरी 3. रामध्यानमंजरी 4. राम-अष्ट्याम

कृष्ण काव्यधारा के प्रमुख कवि

सूरदास–ये कृष्णभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। सूरदास नेत्रहीन थे। इनका जन्म 1478 में हुआ था तथा मृत्यु 1573 में हुई थी। इनके पद गेय हैं। इनकी रचनाएँ 3 पुस्तकों में संकलित हैं। सूर सारावली–इसमें 1103 पद हैं। 2. साहित्य लहरी 3. सूरसागर–इसमें 12 स्कंध हैं और सवा लाख पद थे, किंतु अब 45000 पद ही मिलते हैं। इसका आधार श्रीमद भागवत पुराण है।

कुंभनदास–यह अष्टछाप के प्रमुख कवि हैं। जिनका जन्म 1468 में गोवर्धन, मथुरा में हुआ था तथा मृत्यु 1582 में हुई थी। इनके फुटकल पद ही मिलते हैं।

नंददास–ये 16वी शती के अंतिम चरण के कवि थे। इनका जन्म 1513 में रामपुर हुआ था तथा मृत्यु 1583 में हुई थी। इनकी भाषा ब्रज थी। इनकी 13 रचनाएं प्राप्त हैं। 1. रासपंचाध्यायी 2. सिद्धांत पंचाध्यायी 3. अनेकार्थ मंजरी 4. मानमंजरी 5. रूपमंजरी 6. विरहमंजरी 7. भँवरगीत 8. गोवर्धनलीला 9. श्यामसगाई 10. रुक्मिणीमंगल 11. सुदामाचरित 12. भाषादशम-स्कंध 13. पदावली।

रसखान–इनका असली नाम सैय्यद इब्राहिम था। इनका जन्म हरदोई में 1533 से 1558 के बीच हुआ था। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन कृष्णभक्ति को समर्पित कर दिया था। इन्हें प्रेम रस की खान कहा जाता है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं सुजान रसखान 2. प्रेमवाटिका।

मीरा–मीराबाई स्वयं ही एक लोकनायिका हैं। इनका जन्म 1498 में हुआ था तथा मृत्यु 1547 में। इन्होंने मध्य काल में स्त्रियों की पराधीन बेड़ियों को तोड़ कर स्वतंत्र हो कर कृष्णप्रेम का प्रदर्शन करने का साहस किया। इन्होंने सामाजिक और पारिवारिक दस्तूरों का बहादुरी से मुकाबला किया और कृष्ण को अपना पति मानकर उनकी भक्ति में लीन हो गयीं। उनके ससुराल पक्ष ने उनकी कृष्ण भक्ति को राजघराने के अनुकूल नहीं माना और समय-समय पर उनपर अत्याचार किये। मीरा स्वयं को कृष्ण की प्रेयसी मानती हैं, तथा अपने सभी पदों में उसी तरह व्यवहार करती हैं। इनके मृत्यु को ले कर कई किवंदतियां प्रसिद्ध हैं। इनके सभी पद गेय हैं। इनकी रचनाएँ मीराबाई पदावली में संग्रहित हैं।

सगुण भक्ति काव्य की विशेषता

भक्तिकाल अथवा पूर्व मध्यकाल हिंदी साहित्य का महत्त्वपूर्ण काल है जिसे 'स्वर्णयुग' विशेषण से विभूषित किया जाता है। इस काल की समय सीमा विद्वानों द्वारा संवत 1375 से 1700 तक मान्य है। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अंतर्विरोधों से परिपूर्ण होते हुए भी इस काल में भक्ति की ऐसी धारा प्रवाहित हुई कि विद्वानों ने एकमत से इसे भक्ति काल कहा।

'भज' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय के साथ निर्मित शब्द 'भक्ति' अत्यंत व्यापक एवं गहन है। शांडिल्य और नारद भक्ति सूत्र में 'भक्ति' को 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' एवं 'सा त्वस्मिन परम प्रेम रूपा' कहकर पारिभाषित किया है। वस्तुतः भक्ति और प्रेम मनुष्य की सहजात भाव स्थितियाँ हैं जिनके आधार पर भक्ति दो रूपों में प्रस्फुटित हुई–निर्गुण और सगुण।

सगुण भक्ति का अर्थ है–आराध्य के रूप–गुण, आकर की कल्पना अपने भावानुरूप कर उसे अपने बीच व्याप्त देखना। सगुण भक्ति में ब्रह्म के अवतार रूप की प्रतिष्ठा है और अवतारवाद पुराणों के साथ प्रचार में आया। इसी से विष्णु अथवा ब्रह्म के दो अवतार राम और कृष्ण के उपासक जन-जन के हृदय में बसने लगे। राम और कृष्ण के उपासक उन्हें विष्णु का अवतार मानने की अपेक्षा परब्रह्म ही मानते हैं, इसकी चर्चा यथास्थान की जाएगी।

भक्तिकाल की सगुण काव्य धरा के अंतर्गत आराध्य देवताओं में श्रीकृष्ण का स्थान सर्वोपरि है। वेदों में श्रीकृष्ण का उल्लेख हुआ है, ऋगवेद

में कृष्ण (आंगिरस) का उल्लेख है। पुराणों तक आते–आते राम और कृष्ण अवतार रूप में प्रतिष्ठित हो गए। श्रीमद्भाग्वद्पुराण में उन्हें पूर्ण ब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है।

भक्तिकाल में कृष्ण भक्ति का प्रचार कृष्ण की जन्म एवं लीलाभूमि में व्यापक रूप में हुआ वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में वल्लभाचार्य दृपुष्टिमार्ग. निम्बार्काचार्य–निम्बार्क, श्री हितहरिवंश–राधावल्लभ, स्वामी हरिदास–हरिदासी, चौतन्य महाप्रभु–गौडीय संप्रदाय सभी सम्प्रदायों में पूर्ण ब्रह्म श्री कृष्ण तथा श्री राधा उनकी आह्लादिनी शक्ति की उपासना की गयी. सत, चित, आनंद स्वरुप श्री कृष्ण नन्द और यशोदा के आँगन में विभिन्न बाल लीलाओं के माध्यम से समस्त गोकुलवासियों को आनंद प्रदान करते है। बाल रूप में ही राक्षस–राक्षसियों का विनाश कर अपने दिव्य रूप को सहज ग्राह्य बना देते हैं। वे ही सर्वव्यापक, अविनाशी, अजर, अमर, अगम आदि विशेषणों से युक्त होते हुए भी ब्रज के प्रत्येक प्राणी को उसके भावानुरूप आनंद-प्रदान करते है।

हिंदी साहित्य में कृष्ण भक्ति पर आधारित काव्यों की लम्बी परंपरा है (आदिकालीन कृष्ण काव्य में चंदवरदाई और विद्यापति उल्लेखनीय है) भक्तिकालीन कृष्ण भक्त कवियों पर महाप्रभु वल्लभाचार्य का विशेष प्रभाव है। उन्होंने श्रीकृष्ण के बाल एवं किशोर रूप की लीलाओं का गायन किया तथा गोवर्धन पर श्रीनाथ जी को प्रतिष्ठित कर एक मंदिर बनवाया। उन्होंने भगवान के अनुग्रह की महत्ता पर बल दिया।

दर्शन के क्षेत्र में विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत का प्रभाव इन पर दिखाई देता है। अपने इस भक्ति मार्ग को उन्होंने पुष्टिमार्ग कहा और अनेक शिष्यों को कृष्ण भक्ति का मन्त्र देकर दीक्षित भी किया। जिन्हें अष्टछाप के कवि अथवा अष्ट सखा कहा गया। इनमें सूरदास, कुम्भनदास, परमानंददास, कृष्णदास–चार श्री बल्लभाचार्य के शिष्य और गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास–चार बल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ के शिष्य थे। आठ की संख्या होने से इन्हें अष्ट छाप कहा गया।

इन सभी भक्त कवियों ने श्रीमदभागवत के आधार पर ही कृष्ण लीला गान किया है। इसके लिए अपने आराध्य श्रीकृष्ण की कृपा से प्राप्त भगवत प्रेम ही महत्त्वपूर्ण है। पुष्टिमार्ग का अनुयायी भक्त आत्मसमर्पण युक्त रसात्मक प्रेम द्वारा भगवान की लीला में तल्लीन हो आनन्दावस्था को प्राप्त होता है।

सभी कृष्ण भक्त कवियों की रचनाएँ भक्ति, संगीत और कवित्व का समन्वित रूप है। लीलामय श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति के आवेश में इन अष्टछाप कवियों के हृदय से गीतिकाव्य की जो निर्झरिणी प्रस्फुटित हुई उसने भगवदभक्तों को आकंठ निमग्न कर दिया।

भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण काल है। यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती साहित्य से सर्वथा भिन्न विशिष्ट साहित्य है। साहित्य के इतिहास का वह काल जिसमें संत कवियों ने अपनी अमृतवाणी से जनमानस को सिंचित कर उनके ज्ञान का दीप जलाया और पत्नोंमुख समाज में अपनी दिव्यवाणी से नवीन चेतना जागृत कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की, भक्तिकाल के नाम से विख्यात है। डॉ. श्यान्सुन्दर दास ने इस काल के संबंध में कहा है कि ' जिस युग में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे रस-सिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंत करणों से निकलकर देश के कोने कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग है।' इस सन्दर्भ में हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन साहित्य की विशेषताओं का वर्णन कर रहे हैं–

1. नाम का महत्त्व

कीर्तन भजन आदि के रूप में भगवान् का गुण सभी शाखाओं कवियों में पाया जाता है। सभी कवियों ने अपने अपने इष्ट देव के नाम का स्मारक किया है। गोस्वामी तुलसीदास तो नाम को राम से भी बड़ा मानते हैं।

तुसलीदास जी कहते हैं–मोर मत बड नाम दुहूँ। जेहि किए जग नित बल बूते।

2. गुरु का महत्त्व

इस काल में गुरु का महत्त्व ईश्वर के समान या उससे बढ़कर बताया गया है। कबीर गुरु को ईश्वर से बड़ा बताते हैं–

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय। बलिहारी गुरू अपने गोविन्द दियो बताय।।

3. भक्ति भावना की प्रधानता

सभी कवियों में भक्ति भावना की प्रधानता है। कबीर ने तो यहाँ तक कहा है–हरि भक्ति जाने बिना, बूढी मुआ संसार। सूर और तुलसी का सम्पूर्ण भक्ति प्रधान है।

4. आडम्बर का विरोध

सभी भक्ति कवियों ने ब्राह आडम्बरों का विरोध किया है। कबीर के शब्दों में–जप माला छापा तिलक, सरे एक एको काम।

5. समनवय की भावना

भक्ति काल के साहित्य में धार्मिक, सामाजिक, दर्धानिक आदि सभी क्षेत्रों में समनवय की भावना मिलती हैं। तुलसीदास में तो समनवय की विराट चेष्टा मिलती है। भक्ति ज्ञान दर्शन के साथ भाषा शैली एवं सगुण और निर्गुण में भी तुलसी में समन्वय की चेष्टा की है।

6. अलौकिक साहित्य

इस काल में जितने भी काव्य लिखे गए हैं, सभी ईश्वरीय हैं। किसी व्यक्ति पर काव्य लिखने का इसमें कोई प्रयास नहीं किया गया है। इस प्रकार ये सभी रचनाएँ आध्यात्मिक कोटि की हैं।

7. दरबारी साहित्य का त्याग

जायसी के अतिरिक्त अन्य कोई कवि कभी कसी राजाश्रय में नहीं रहा। ए कवि राजाश्रय से मुक्त रहकर स्वतंत्र रचना करते थे।

8. काव्य रूप

इस काल के कृष्णमार्गी तथा ज्ञानमार्गी कवियों ने मुक्तक काव्य की रचना की है। इस विपरीत प्रेम मार्गी तथा राज्मार्गी कवियों ने मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार के काव्यों में रचना की है। भाषा की विविधता इस काल की विशेष प्रधानता है। इस काल के कवियों ने मुक्तक, गेय, पद, दोहा, चौपाई, सोरठा आदि विविध छंदों का प्रयोग किया है। शांत रस इस काल का प्रधान रस हैं।

भक्तिकाल की परिस्थितियाँ

धार्मिक साहित्य में भक्तिकाल अपना एक अहम और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी के अनुसार 1318ई से 1643ई तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य(साहित्यिक दो प्रकार के हैं–धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य) का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएँ इसी युग में प्राप्त होती हैं।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

चौदहवीं शताब्दी हिंदी साहित्य के इतिहास में सबसे दुर्भाग्य जनक समय रहा है। इसके दौरान विदेशियों के आक्रमण से देश की स्थिति तहस–नहस हो गई थी। विशेषत: मुसलमानों के आक्रमण से बहुत से प्राचीन मंदिर लूट लिये गये, मूर्तियाँ तोड़ दी गई। मुसलमानों के आतंक से राजनीतिक सरगर्मी ठण्डी पड़ गई थी। देश के विभिन्न क्षेत्रों में इनका जमावड़ा होने लगा था। इनके द्वारा शहर या नगर बसने लगे थे। हिंदूओं के धर्म ग्रंथ जला दिए जाने लगे। बड़े–बड़े साधु–सन्यासी के सिर कलम कर दिए जाने लगे। राजपूतों की आपसी मतभेद तथा हिंदुओं में एकता की कमी के कारण स्थिति बद से बदतर होने लगी थी। बड़े–बड़े भाट और चारण के ओज समाप्त हो गए थे। अंतत: मुसलमान शासकों की अधीनता स्वीकार करना ही एकमात्र सहारा था, जिससे जीवन की रक्षा हो सकी थी।

सामाजिक परिस्थितियां

राजनीतिक परिस्थितियां जब देश में पैर पसारने लगी तब मुसलमानों का ही बोलबाला था। समाज में इन्हीं की चलती थी। मजहबी जेहाद की जोश में मुसलमान हिंदुओं पर हर तरह से हावी थे। इनका अत्याचार असहनीय हो गया था। हिंदुओं पर धर्म के नाम पर 'जजिया' नाम का अतिरिक्त कर जबरन लगाया गया था। परिस्थितिवश हिंदू मजबूर थे। ये निष्फल क्रोध से घृणा से अभिभूत होकर मुसलमानों को म्लेच्छ कहते थे। हिंदुओं में पारस्परिक मतभेद एवं एकबद्धता की कमी होने के कारण इन्हें मुसलमानों के अत्याचार का

शिकार होना पड़ा था। कोई मुसलमान शासकों ने सैद्धन्तिक तौर या पारस्परिक राजनीतिक षड्यंत्र के माध्यम से हिंदू राजाओं के साथ रोजी-रोटी का संबंध स्थापित कर लिया था। समाज के कुछ वर्गों की स्त्रियाँ अपना मान-सम्मान बचाने के उद्देश्य से आत्महत्या करने लगी थीं। आततायियों से सुरक्षित रहने के लिए सती प्रथा, पर्दा प्रथा एवं जौहर व्रत का प्रचलन जोर पकड़ने लगा था। हिंदू धर्म के आडंबरपूर्ण काण्ड का बोलबाला था। वंश की पवित्रता को ध्यान में रखते हुए हिंदू समाज के ठेकेदारों ने अपने रहन-सहन, खान-पान, तथा विभिन्न प्रकार की पारंपरिक प्रथाओं को अत्यंत जटिल एवं कठोर बना दिया था। नारी को उपभोग का माध्यम माना जाता था। बहुत से लोग स्त्री को मायावती का रूप मानते थे तथा उसे नरक का द्वार कहने में नहीं हिचकिचाते थे। निम्न वर्ग के लोगों का जीवन स्तर बिल्कुल निम्न स्तर का था। वे किसी भी प्रकार से जीवन जीने के लिए विवश थे। इस प्रकार आदिकाल के भक्ति काल का साहित्य जगत सामाजिक कुरीतियों एवं उथल-पुथल भरी परिस्थितियों के कारण अव्याहत दुआ है।

धार्मिक परिस्थितियां

धार्मिक दृष्टि से भी हिंदी साहित्य जगत किसी निश्चित सिद्धांत पर अडिग नहीं था। एक तरफ प्राचीन सिद्धों और नाथों के खण्डनात्मक तथा सांप्रदायिक योगी मार्ग प्रबल थी तो दूसरी तरफ धर्म के नाम पर आडम्बर, रूढ़िवाद तथा जटिल से जटिल कर्मोंकाण्डों की प्रधानता थी। वेद ब्राह्मण, कर्म-काण्ड तथा पूजा-पाठ के विरोधी थे। वे वास्तविक ज्ञान–चर्चा साधना को ही मुक्ति मार्ग का लक्ष्य मानते थे।

बिंब क्या है?

बिम्ब किसी पदार्थ का मानचित्र या मानसी चित्र होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय में बिंब को कविता का अनिवार्य अंग माना है। बिंब शब्दों द्वारा चित्रित किए जाने वाला वह न्यूनाधिक संविदात्मक चित्र है जो अंश का रुप आत्मक होता है और अपने संदर्भ में मानवीय संवेदनाओ से संबंध रखता है। किंतु वह कविता की भावना या उसके आगे को पाठक तक पहुंचाता है। चित्रमयता वर्तमान कविता की अनिवार्यता है, क्योंकि चित्रात्मक स्थितियों का पाठक चाक्षुष अनुभव कर पाता है।

कविता में बिंब के प्रयोग से पाठक या श्रोता कविता को इंद्रियबोध और मानसिक वह दोनों ही प्रकार किसे सुगमता से आत्मसात कर लेता है। छायावादी कविता और आधुनिक कविता ने बिम्बों को स्वीकार किया। इसलिए यह कविताएँ छंद मुक्त होकर भी पाठक को सम्वेदनाओं से अधिक निकट ठहरती है। शिक्षक और छात्र पाठ्यपुस्तकों में संकलित कविताओं के माध्यम से बिम्बों की महत्ता का स्वयं अनुभव करेंगे बिम्बों का वर्गीकरण बहुत जटिल है, लेकिन हमने अधिक जटिलताओं से बचते हुए उसके दो मौलिक वर्गों पर ही अपना विहंगपात सीमित कर लिया है।

(अ) शुद्ध इंद्रियबोध गम्य बिंब–1 चाक्षुष बिंब 2 नाद बिंब 3 गन्ध बिम्ब 4 स्वाद बिंब, स्पर्श बिंब।

पाँचों ज्ञानेइंद्रियों के विषयों से संबंधित बिंब इंद्रिय बोध गम में बिंब कहलाते हैं।

उदाहरण के लिए

नत नयन करके कुसुम जयमाल ले भाल में कौमार्य की वेदी दिए।
क्षितिज पर आकर खड़ी होती उषा नित्य किस सौभाग्यशाली के लिए।।

(आ) मिश्रित इंद्रिय बोध के आधार पर यह संवेदात्मक बिम्ब–1 मानस बिंब, 2 स्रोत वैभिन्नयगत बिंब–(अ) धार्मिक एवं पौराणिक बिंब (ब) तंत्रों से गृहीत बिंब (स) महाकाव्यों से गृहीत बिंब (द) ऐतिहासिक स्रोतों से गृहीत बिंब।

युधिष्ठिर ! दुशासन–शैल सहरसा फूटता है?
कभी क्या वज्र निर्धन व्योम छूटता है ?
अमल गिरी फूटता, जब ताप होता है अवनि में,
कड़कती दामिनी विकराल धुमाकुल गगन में।।

यह संक्षिप्त परिचय था विशेष आपको पुस्तक में या फिर हमारे दूसरे लिंक पर मिल सकती है।

बिम्ब-विधान

शब्दों के माध्यम से निर्मित चित्र ही बिम्ब कहलाता है। काव्य-बिम्ब फोटो की तरह यथार्थ बिम्ब न होकर कवि की मानसिकता और भावना के अनुरूप कल्पना द्वारा निर्मित होते हैं। इसमें किसी वस्तु का आभास मात्र होता है। बिम्ब में इन्द्रियों का विशेष स्थान है, इन्द्रियों के द्वारा ही कवि किसी भाव

की अनुभूति ग्रहण करता है और उस अनुभूति को कल्पना के माध्यम से शब्दों द्वारा चित्रित करता है। शब्द चित्रों की अनुभूति पाठक या श्रोता पढ़कर या सुनकर ग्रहण करते हैं, साथ ही कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करते हैं। बिम्ब की प्रभावात्मकता उसकी ऐन्द्रियता पर ही निर्भर करती है। इंद्रियों के आधार पर ही बिम्ब के पाँच प्रसुख भेद होते है–

क. दृश्य बिम्ब
ख. श्रव्य बिम्ब
ग. स्पर्श बिम्ब
घ. घ्राण बिम्ब
ङ. स्वाद बिम्ब

क. दृश्य बिम्ब–

दृश्य बिम्ब का संबंध नेत्रों से है। जब किसी काव्य को पढ़कर या सुनकर आँखों के सामने किसी घटना या वस्तु का चित्र सा उभर आता है तब वहाँ दृश्य बिम्ब होता है।

उदाहरण–

रश्मियों की सूक्ष्म सुइयों में रजत के तार भर, शशिकला ने भू–वसन पर की कढ़ाई रात में।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने चाँदनी रात में प्रकट हुए पृथ्वी के सौन्दर्य का दृश्य उभारकर प्रक्रति के मनोरम दृश्य का दृश्य बिम्ब प्रस्तुत किया है।

ख. श्रव्य बिम्ब–

श्रव्य बिम्ब का संबंध कर्णेन्द्रिय से है। जब किसी काव्य को पढ़कर या सुनकर किसी वाद्य या अन्य प्रकार की ध्वनि का आभास होता है तब वहाँ श्रव्य बिम्ब होता है।

उदाहरण–

खूब झम–झम कर बरस काली घटा।

उपर्युक्त पंक्ति को पढ़कर तेजी से बरसती हुई बारिश का शोर कानों में गूँजता सा महसूस होता है। इसलिये यहाँ श्रव्य बिम्ब है।

ग. स्पर्श बिम्ब

स्पर्श बिम्ब का संबंध त्वचा से होता है। जब किसी काव्य को पढ़कर या सुनकर ऐसा आभास होता है कि किसी वस्तु की कोमलता या खुरदुरेपन ने हमें स्पर्श सा किया है, तब वहाँ काव्य में स्पर्श बिम्ब होता है। ?

उदाहरण-

जले जो रेत में तलुवे तो हमने ये देखा
बहुत से लोग वहीं छटपटा के बैठ गये।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने प्रखर धूप में तपी रेत से स्पर्श होते तलुवे का स्पर्श बिम्ब प्रस्तुत किया है।

घ. घ्राण बिम्ब

घ्राण बिम्ब का संबंध घ्राणेन्द्रिय से है। जब किसी काव्य को पढ़कर या सुनकर किसी वस्तु की सुगन्ध या दुर्गन्ध का आभास होता है, तब वहाँ घ्राण बिम्ब होता है।

उदाहरण–

सोंधी-सोंधी महक है मिट्टी की,
पहली-पहली फुहार में शामिल।

उपर्युक्त पंक्तियों में गर्मी के मौसम के बाद जब वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पहली फुहार पड़ने से जो मिट्टी से सोंधी महक उठती है, उसी का घ्राण बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

ङ. स्वाद बिम्ब

स्वाद बिम्ब का संबंध स्वादेन्द्रिय से है। जब किसी काव्य को पढ़कर या सुनकर किसी वस्तु के खट्टे, मीठे, नमकीन या कसैले होने का आभास होता है, तब वहाँ स्वाद बिम्ब होता है।

उदाहरण–

कुकुरमुत्ते की कहानी
सुनी जब बहार से
नबाब के मुँह में आया पानी।

उपर्युक्त पंक्तियों में कुकुरमुत्ते के स्वाद के बिम्ब को उभारा गया है, इसलिए यहाँ स्वाद बिम्ब है।

2

कबीर साहित्य में बिंब योजना

कबीर या भगत कबीर 15वीं सदी के भारतीय रहस्यवादी कवि और संत थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में ज्ञानाश्रयी-निर्गुण शाखा की काव्यधारा के प्रवर्तक थे। इनकी रचनाओं ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन को गहरे स्तर तक प्रभावित किया। उनका लेखन सिखों घ के आदि ग्रंथ में भी देखने को मिलता है।

वे हिन्दू धर्म व इस्लाम को न मानते हुए धर्म निरपेक्ष थे। उन्होंने सामाज में फैली कुरीतियों, कर्मकांड, अंधविश्वास की निंदा की और सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की थी। उनके जीवनकाल के दौरान हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपने विचार के लिए धमकी दी थी।

कबीर पंथ नामक धार्मिक सम्प्रदाय इनकी शिक्षाओं के अनुयायी हैं।

जन्म

कबीर का जन्म कब और कहाँ हुआ था इसके बारे में इतिहासकारों के बीच में द्वन्द हैं। कबीर के जन्म स्थान के बारे में तीन मत सामने आते हैं मगहर, काशी और आजमगढ़ का बेलहरा गाँव अधिकतर इतिहासकार इस बारे में यकीन रखते हैं कि कबीर का जन्म काशी (वाराणसी) में हुआ था। यह बात कबीर के दोहे की इस पंक्ति से जानने को मिलती हैं।

काशी में परगट भये, रामानंद चेताये

एक प्रचलित कथा के अनुसार कबीर का जन्म 1440 ईसवी को गरीब विधवा ब्राह्मणी के यहाँ हुआ था। जिसे ऋषि रामानंद जी ने भूलवश पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। विधवा ब्राह्मणी ने संसार की लोक-लाज के कारण नवजात शिशु को लहरतारा ताल के पास छोड़ दिया था। शायद इसी कारण शायद कबीर सांसारिक परम्पराओं को कोसते नजर आते थे।

एक कथा के अनुसार कबीर का पालन-पोषण नीरू और नीमा के यहाँ मुस्लिम परिवार में हुआ। नीरू को यह बच्चा लहरतारा ताल के पास मिला था। कबीर के माता–पिता कौन थे इसके बारे में एक निश्चित राय नहीं हैं। कबीर नीरू और नीमा की वास्तविक संतान थी या उन्होंने सिर्फ उनका लालन-पोषण किया इसके बारे में इतिहासकारों के अपने-अपने मत है।

कबीर की शिक्षा

कबीर की शिक्षा के बारे में यहाँ कहा जाता हैं कि कबीर को पढने-लिखने की रूचि नहीं थी। बचपन में उन्हें खेलों में किसी भी प्रकार शौक नहीं था। गरीब माता-पिता होने से मदरसे में पढ़ने लायक स्थिति नहीं थी। दिन भर भोजन की व्यवस्था करने के लिए कबीर को दर-दर भटकना पड़ता था। इसी कारण कबीर कभी किताबी शिक्षा नहीं ले सके।

आज हम जिस कबीर के दोहे के बारे में पढ़ते हैं वह स्वयं कबीर ने नहीं बल्कि उनके शिष्यों ने लिखा हैं। कबीर के मुख से कहे गए दोहे का लेखन कार्य उनके शिष्यों ने किया था। उनके शिष्यों का नाम कामात्य और लोई था। लोई का नाम कबीर के दोहे में कई बार इस्तेमाल हुआ हैं। संभवत: लोई उनकी बेटी और शिष्या दोनों थी।

कबीर की गुरु दीक्षा

कबीर का पालन-पोषण बेहद ही गरीब परिवार में हुआ था। जहाँ पर शिक्षा के बारे में तो सोचा भी नहीं जा सकता था। उस दौरान रामानंद जी काशी के प्रसिद्द विद्वान और पंडित थे। कबीर ने कई बार उनके आश्रम में जाने और उनसे मिलने की विनती की, लेकिन उन्हें हर बार भगा दिया जाता था और उस समय जात-पात का भी काफी चलन था। ऊपर से काशी में पंडों का भी राज रहता था।

एक दिन कबीर ने यह देखा कि गुरु रामानंद जी हर सुबह 4-5 बजे स्नान करने के लिए घाट पर जाते हैं। कबीर ने पूरे घाट पर बाड लगा दी और बाड का केवल एक ही हिस्सा खुला छोड़ा। वही पर कबीर रात को सो गए। जब सुबह-सुबह रामानंद जी स्नान करने आये तो बाड देखकर ठीक उसी स्थान पर से निकले जहाँ से कबीर ने खुली जगह छोड़ी थी। सूर्योदय से पूर्व के अँधेरे में गुरु ने कबीर को देखा नहीं और कबीर के पैर पर चढ़ गए। जैसे ही गुरु पैर पर चढ़े कबीर के मुख से राम राम राम निकल पड़ा।

गुरु को प्रत्यक्ष देख कबीर बेहद ही खुश हो गए उन्हें उनके दर्शन भी हो गए, चरण पादुकाओं का स्पर्श भी मिल गया और इसके साथ ही राम नाम रूपी भक्तिरस भी मिल गया। इस घटना के बाद रामानंद जी ने कबीर को अपना शिष्य बना लिया।

कबीर दास का धर्म

कबीर दास के एक पद के अनुसार जीवन जीने का सही तरीका ही उनका धर्म हैं। वह धर्म से न हिन्दू हैं न मुसलमान. कबीर दास जी धार्मिक रीति रिवाजों के काफी निंदक रहे हैं। उन्होंने धर्म के नाम पर चल रही कुप्रथाओं का भी विरोध किया हैं। कबीर दास का जन्म सिख धर्म की स्थापना के समकालीन था इसी कारण उनका प्रभाव सिख धर्म में भी दिखता हैं। कबीर ने अपने जीवन काल में कई बार हिन्दू और मुस्लिमो का विरोध झेलना पड़ा।

कबीर की मृत्यु

संत कबीर की मृत्यु सन 1518 ई. को मगहर में हुई थी। कबीर के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों में बराबर थे। जब कबीर की मृत्यु हुई तब उनके अंतिम संस्कार पर भी विवाद हो गया था। उनके मुस्लिम अनुयायी चाहते थे कि उनका अंतिम संस्कार मुस्लिम रीति से हो जबकि हिन्दू, हिन्दू रीति रिवाजो से करना चाहते थे। इस कहानी के अनुसार इस विवाद के चलते उनके शव से चादर उड़ गयी और उनके शरीर के पास पड़े फूलों को हिन्दू मुस्लिम में आधा-आधा बाँट लिया। हिन्दू और मुसलमानों दोनों से अपने तरीकों से फूलों के रूप में अंतिम संस्कार किया। कबीर के मृत्यु स्थान पर उनकी समाधी बनाई गयी हैं।

कबीर के राम

कबीर के राम तो अगम हैं और वे संसार के कण-कण में विराजते हैं। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी, एकसत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्त जगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है। पर कबीर के राम परम समर्थ भले हों, लेकिन समस्त जीवों और जगत से भिन्न तो कदापि नहीं हैं, बल्कि इसके विपरीत वे तो सबमें व्याप्त रहने वाले रमता राम हैं। वह कहते हैं व्यापक ब्रह्म सबनिमैं एकै, को पंडित को जोगी। रावण-राव कवनसूं कवन वेद को रोगी।

कबीर राम की किसी खास रूपाकृति की कल्पना नहीं करते, क्योंकि रूपाकृति की कल्पना करते ही राम किसी खास ढांचे (Yse) में बंध जाते, जो कबीर को किसी भी हालत में मंजूर नहीं। कबीर राम की अवधारणा को एक भिन्न और व्यापक स्वरूप देना चाहते थे। इसके कुछ विशेष कारण थे, जिनकी चर्चा हम इस लेख में आगे करेंगे, किन्तु इसके बावजूद कबीर राम के साथ एक व्यक्तिगत पारिवारिक किस्म का संबंध जरूर स्थापित करते हैं। राम के साथ उनका प्रेम उनकी अलौकिक और महिमाशाली सत्ता को एक क्षण भी भुलाए बगैर सहज प्रेमपरक मानवीय संबंधों के धरातल पर प्रतिष्ठित है।

कबीर नाम में विश्वास रखते हैं, रूप में नहीं। हालांकि भक्ति-संवेदना के सिद्धांतों में यह बात सामान्य रूप से प्रतिष्ठित है कि 'नाम रूप से बढ़कर है', लेकिन कबीर ने इस सामान्य सिद्धांत का क्रांतिधर्मी उपयोग किया। कबीर ने राम-नाम के साथ लोकमानस में शताब्दियों से रचे-बसे संश्लिष्ट भावों को उदात्त एवं व्यापक स्वरूप देकर उसे पुराण-प्रतिपादित ब्राह्मणवादी विचारधारा के खांचे में बांधे जाने से रोकने का प्रयास किया।

कबीर के राम निर्गुण-सगुण के भेद से परे हैं। वास्तव में उन्होंने अपने राम को शास्त्र-प्रतिपादित अवतारी, सगुण, वर्चस्वशील वर्णाश्रम व्यवस्था के संरक्षक राम से अलग करने के लिए ही 'निर्गुण राम' शब्द का प्रयोग किया-'निर्गुण राम जपहु रे भाई।' इस 'निर्गुण' शब्द को लेकर भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। कबीर का आशय इस शब्द से सिर्फ इतना है कि ईश्वर को किसी नाम, रूप, गुण, काल आदि की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। जो सारी सीमाओं से परे हैं और फिर भी सर्वत्र हैं, वही कबीर के निर्गुण राम हैं। इसे उन्होंने 'रमता राम' नाम दिया है। अपने राम को निर्गुण

विशेषण देने के बावजूद कबीर उनके साथ मानवीय प्रेम संबंधों की तरह के रिश्ते की बात करते हैं। कभी वह राम को माधुर्य भाव से अपना प्रेमी या पति मान लेते हैं तो कभी दास्य भाव से स्वामी। कभी-कभी वह राम को वात्सल्य मूर्ति के रूप में माँ मान लेते हैं और खुद को उनका पुत्र। निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साथ भी इस तरह का सरस, सहज, मानवीय प्रेम कबीर की भक्ति की विलक्षणता है। यह दुविधा और समस्या दूसरों को भले हो सकती है कि जिस राम के साथ कबीर इतने अनन्य, मानवीय संबंधपरक प्रेम करते हों, वह भला निर्गुण कैसे हो सकते हैं, पर खुद कबीर के लिए यह समस्या नहीं है।

वह कहते भी हैं

'संतौ, धोखा कासूं कहिये। गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छांड़ि क्यूं बहिसे!' नहीं है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने कबीर के राम एवं कबीर की साधना के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है–कबीर का सारा जीवन सत्य की खोज तथा असत्य के खंडन में व्यतीत हुआ। कबीर की साधना ''मानने से नहीं, ''जानने से आरम्भ होती है। वे किसी के शिष्य नहीं, रामानन्द द्वारा चेताये हुए चेला हैं। उनके लिए राम रूप नहीं है, दशरथी राम नहीं है, उनके राम तो नाम साधना के प्रतीक हैं। उनके राम किसी सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं में कैद नहीं है। प्रकृति के कण-कण में, अंग-अंग में रमण करने पर भी जिसे अनंग स्पर्श नहीं कर सकता, वे अलख, अविनाशी, परम तत्व ही राम हैं। उनके राम मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी भेद-भाव के कारक नहीं हैं। वे तो प्रेम तत्व के प्रतीक हैं। भाव से ऊपर उठकर महाभाव या प्रेम के आराध्य हैं :-

'प्रेम जगावै विरह को, विरह जगावै पीउ, पीउ जगावै जीव को, जोइ पीउ सोई जीउ'–जो पीउ है, वही जीव है। इसी कारण उनकी पूरी साधना ''हंस उबारन आए की साधना है। इस हंस का उबारना पोथियों के पढ़ने से नहीं हो सकता, ढाई आखर प्रेम के आचरण से ही हो सकता है। धर्म ओढ़ने की चीज नहीं है, जीवन में आचरण करने की सतत सत्य साधना है। उनकी साधना प्रेम से आरम्भ होती है। इतना गहरा प्रेम करो कि वही तुम्हारे लिए परमात्मा हो जाए। उसको पाने की इतनी उत्कण्ठा हो जाए कि सबसे वैराग्य हो जाए, विरह भाव हो जाए तभी उस ध्यान समाधि में पीउ जाग्रत हो सकता है। वही पीउ

तुम्हारे अर्नृतमन में बैठे जीव को जगा सकता है। जोई पीउ है सोई जीउ है। तब तुम पूरे संसार से प्रेम करोगे, तब संसार का प्रत्येक जीव तुम्हारे प्रेम का पात्र बन जाएगा। सारा अहंकार, सारा द्वेष दूर हो जाएगा। फिर महाभाव जगेगा। इसी महाभाव से पूरा संसार पिउ का घर हो जाता है।

सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा, सब यहि पसरा ब्रह्म पसारा।
जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहीं समाना, यह तथ कथौ गियानी।

रचनाएँ

कबीरदास ने हिन्दू-मुसलमान का भेद मिटा कर हिन्दू-भक्तों तथा मुसलमान फकीरों का सत्संग किया और दोनों की अच्छी बातों को हृदयांगम कर लिया। संत कबीर ने स्वयं ग्रंथ नहीं लिखे, मुँह से बोले और उनके शिष्यों ने उसे लिख लिया। कबीरदास अनपढ़ थे। कबीरदास के समस्त विचारों में राम-नाम की महिमा प्रतिध्वनित होती है। वे एक ही ईश्वर को मानते थे और कर्मकाण्ड के घोर विरोधी थे। अवतार, मूर्त्ति, रोजा, ईद, मस्जिद, मंदिर आदि को वे नहीं मानते थे। कबीर के नाम से मिले ग्रंथों की संख्या भिन्न-भिन्न लेखों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं-

रमैनी
सबद
साखी

इसमें वेदांत तत्व, हिन्दू-मुसलमान को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेमसाधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की असारता, हज, नमाज, व्रत, आराधन की गौणता इत्यादि अनेक प्रसंग हैं। सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश मुख्यतः 'साखी' के भीतर हैं जो दोनों में हैं। इनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी और पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।

यह ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार को, झूठे रंग न भूलि ।।-कबीर
काजल केरी कोठरी, काजल ही का कोट।

बलिहारी ता दास की, जे रहै राम की ओट ।।–कबीर
हम देखत जग जात हैं, जब देखत हम जांह।
ऐसा कोई ना मिलै, पकड़ि छुड़ावै बांह ।।–कबीर

बीजक

'बीजक' कबीरदास के मतों का पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें संदेह नहीं। एक ध्यान देने योग्य बात इसमें यह है कि 'बीजक' में 84 रमैनियाँ हैं। रमैनियाँ चौपाई छंद में लिखी गई हैं। इनमें कुछ रमैनियाँ ऐसी हैं। जिनके अंत में एक-एक साखी उद्धृत की गई है। साखी उद्धृत करने का अर्थ यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानों इन रमैनियों को लिख रहा है और इस रमैनी-रूप व्याख्या के प्रमाण में कबीर की साखी या गवाही पेश कर रहा है। जालंधरनाथ के शिष्य कुण्णपाद (कानपा) ने कहा है–'साखि करब जालंधरि पाए', अस्तु बहुत थोड़ी-सी रमैनियाँ (नं. 3, 28 32, 42, 56, 62, 70, 80) ऐसी हैं जिनके अंत में साखियाँ नहीं हैं, परंतु इस प्रकार उद्धृत करने का क्या अर्थ हो सकता है? इस पुस्तक में मैंने 'बीजक' को निस्संकोच प्रमाण-रूप में व्यवहृत है, पर स्वय 'बीजक' ही इस बात का प्रमाण है कि साखियों को सबसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिए, क्योंकि स्वंय 'बीजक' ने ही रमैनियों की प्रामाणिकता के लिए साखियों का हवाला दिया है। इसीलिए कबीरदास ए सिद्धांतों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन साखियाँ है।

कबीर रचनावली

कबीरदास की वाणियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए है, पर उनमें सबसे अच्छा सुसंपादित संस्करण अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 'कबीर' रचनावली है। यह भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा का ही प्रकाशन है। कबीरदास के पदों में जितने संबोधन हैं उन सबका एक-न–एक खास प्रयोजन है। जब उन्होंने 'अवधू' या 'अवधूत' को पुकारा है तो यथासंभव अवधूत की ही भाषा में उसी के क्रिया-कलाप की आलोचना की है। इस प्रसंग में उनकी युक्ति और तर्कशैली पूर्णरूप से अवधूत-जैसी रहती है। जब वे पंडित या पाँडे को संबोधित करते हैं तो वहाँ भी उनका उद्देश्य पंडित की ही भाषा में पंडित की ही युक्तियों के बल पर उसके मत का निरास करना होता है। इसी तरह मुल्ला, काजी आदि संबोधनों को भी समझना चाहिए। जब वे अपने-आपकों या संतों को संबोधित करके बोलते हैं तब वे अपना मत प्रकट करते जान पड़ते

हैं। वे अपने मत के मानने वाले को ही 'संत' या साधु कहते हैं। साधारणत: वे 'भाई' संबोधन के द्वारा साधारण जनता से बात करते हैं और जब कभी वे 'जोगिया' को पुकार उठते हैं तो स्पष्ट जी जान पड़ता है कि इस भले आदमी के संबंध में उनकी धारणा कुछ बहुत अच्छी नहीं थी। यह दावा किया गया है कि गुरु-परपरा की जानकारी रखने वाले लोग कबीरदास के आत्म-संबोधन में एक निश्चित संकेत की बात बताया करते हैं।

अवधू और अवधूत

भारतीय साहित्य में यह 'अवधू' शब्द कई संप्रदायों के सिद्ध आचर्यों के अर्थ में व्यवहुत हुआ है। साधारणत: जागातिक द्वंद्वों से अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक मतों में 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिक वृत्ति का उल्लेख मिलता है। आठवीं शताब्दी के बाद से नालंदा, विक्रमशिला, ओदंतपुरी आदि विद्यायतनों में, जो बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ वह एक नवीन ढंग का तांत्रिक और योगक्रियामूलक धर्म था। इस नवीन तांत्रिक मत में तीन प्रधान मतों का संधान पाया जाता है-सहजयान, वज्रयान और कालचक्रयान। इन मतों की अधिकांश पुस्तकें आज तिब्बती अनुवाद के रूप में ही सुरक्षित हैं। स्व. हरप्रसाद शास्त्री ने 'चर्याचयीविनिश्चय', 'दोहाकोष', 'अद्वयवज्रसंग्रह' और 'गुह्य-समाजतंत्र' आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सहजयान और वज्रयान में बहुत कुछ समानता है। शास्त्री जी ने, जो चर्यापद प्रकाशित कराए हैं उनमें आर्यदेव, भूसुक, कान्ह, सरह, लुई आदि आचार्यों के पद हैं, जिन्हें तिब्बती साहित्य में सिद्धाचार्य कहा गया है। ये आचार्यगण सहजवस्था की बात करते हैं। सहजावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है।

तंत्र-ग्रंथों में चार प्रकार के अवधूतों की चर्चा है—ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, भक्तावधूत और हंसावधूत। हंसावधूतों में जो पूर्ण होते हैं वे परमहंस और जो अपूर्ण होते हैं वे परिव्राजक कहलाते हैं ('प्राण्तोषिणी')। परंतु कबीरदास ने न तो इतने तरह के अवधूतों की कहीं कोई चर्चा ही की है और न ऊपर 'निर्वाण-तंत्र' के बताए हुए अवधूत से उनके अवधूत की कोई समता ही दिखाई है। 'हंसा' की बात कबीरदास कहते जरूर हैं पर वे हंस और अवधूत को शायद ही कहीं एक समझते हों। वे बराबर हंस या पक्षी शुद्ध और मुक्त

जीवात्मा को ही कहते हैं। इसी भाव को बताने के लिए भर्तृहरि ने कहा है कि इस अवधूत मुनि की बाह्य क्रियाएँ प्रशमित हो गई हैं। वह न दु:ख समझता है, न सुख को सुख। वह कहीं भूमि पर सो सकता है कहीं पलंग पर, कहीं कंथा धारण कर लेता है कहीं दिव्य वसन, कहीं मधुर भोजन पाने पर उसे भी पा लेता है। 'किंतु कबीरदास इस प्रकार योग में भोग को पंसद नहीं करते। यद्यपि इन योगियों के संप्रदाय के सिद्धों को ही कबीरद अवधूत कहते हैं तथापि वे साधारण योगी अवधूत के फर्क को बराबर याद रखते हैं। साधारण योगी के प्रति उनके मन में वैसा आदर का भाव नहीं है जैसा अवधूत के बारे में है। कभी-कभी उन्होंने स्पष्ट भाषा में योगी को और अवधूत को भिन्न रूप से याद किया है। इस प्रकार कबीरदास का अवधूत नाथपंथी सिद्ध योगी है।

प्रसिद्ध है कि एक बार काशी के पंडितों में द्वैत और अद्वैत तत्त्व का शास्त्रार्थ बहुत दिनों तक चलता रहा। जब किसी शिष्य ने कबीर साहब का मत पूछा तो उन्होंने जवाब में शिष्य से ही कई प्रश्न किए। शिष्य ने जो उत्तर दिया उसका सार-मर्म यह था कि विद्यमान पंडितों में इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि भगवान, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श से परे हैं, गुणों और क्रियाओं के अतीत हैं, वाक्य और मन के अगोचर हैं। कबीरदास ने हसँकर जवाब दिया कि भला उन लड़ने वाले पंडितों से पूछो कि भगवान रूप से निकल गया, रस से निकल गया, रस से अतीत हो गया, गुणों के ऊपर उठ गया, क्रियाओं की पहुँच के बाहर हो रहा, वह अंत में आकर संख्या में अटक जाएगा? जो सबसे परे है वह क्या संख्या के परे नहीं हो सकता? यह कबीर का द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्त्ववाद है।

निरंजन कौन है?

मध्ययुग के योग, मंत्र और भक्ति के साहित्य में 'निरंजन' शब्द का बारम्बार उल्लेख मिलता है। नाथपंथ में भी 'निरंजन' शब्द खूब परिचित है। साधारण रूप में 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप से शिव का वाचक है। नाथपंथ की भाँति एक और प्राचीन पंथ भी था, जो निरंजन पद को परमपद मानता था। जिस प्रकार नाथपंथी नाथ को परमाराध्य मानते थे, उसी प्रकार ये लोग 'निरंजन' को। आजकल निरंजनी साधुओं का एक सम्प्रदाय राजपूताने में वर्तमान है। कहते हैं, इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरानंद निरंजन भगवान (निर्गुण) के उपासक थे।

बंगाल के पश्चिमी हिस्सों तथा बिहार के पूर्वी जिलों में आज भी एक धर्ममत है, जिसके देवता निरंजन या धर्मराज हैं। एक समय यह सम्प्रदाय झारखण्ड और रीवाँ तक प्रचलित था। बाद में चलकर यह मत कबीर सम्प्रदाय में अंतर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएँ कबीर मत में गृहीत हो गई, परन्तु उनका स्वर बदल गया। नाथपंथ में निरंजन की महिमा खूब गाई गई है। हठयोगी जब नादानुसंधान का सफल अभ्यासी हो जाता है तो उसके समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, उसके चित्त और मारुत निरंजन में लीन हो जाते हैं। यह योगी का परम साध्य है, क्योंकि जब तक ज्ञान निरंजन के साक्षात्कार तक नहीं उठता तभी तक इस संसार के विविध जीवों और नाना पदार्थों में भेद-दृष्टि बनी हुई है।

भाषा शैली

कबीरदास ने बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में कहलवा लिया—बन गया है तो सीधे—सीधे, नहीं दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार—सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवा फक्कड़ कि किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत ही कम लेखकों में पाई जाती है। असीम-अनंत ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानंद का आस्वादन कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधु और जोगिया, मुल्ला और मौलवी-सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते थे। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं पाता।

इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की

कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है। कबीर ने जिन तत्त्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है, उसके लिए कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की सम्भावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रम से वह भाषा आज के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती है। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषा में परम्परा से चली आई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारण को जाने बिना उस भाषा को ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं है। इस पुस्तक में उसी ऐतिहासिक परम्परा के अध्ययन का प्रयास है। यह प्रयास पूर्ण रूप से सफल ही हुआ होगा, ऐसा हम कोई दावा नहीं करते, परन्तु वह ग्रहणीय नहीं है, इस बात में लेखक को कोई सन्देह नहीं है।

पंचमेल खिचड़ी भाषा

Blockquote-open-gif कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सम्भाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में संतोष पाता है। Blockquote-close-gif

हजारी प्रसाद द्विवेदी

कबीर की रचनाओं में अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं यथा–अरबी, फारसी, पंजाबी, बुन्देलखंडी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि के शब्द मिलते हैं इसलिए इनकी भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' या 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा जाता है। प्रसंग क्रम से इसमें कबीरदास की भाषा और शैली समझाने के कार्य से कभी-कभी आगे बढ़ने का साहस किया गया है, जो वाणी के अगोचर हैं, उसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई हैय जो मन और बुद्धि की पहुँच से परे हैं, उसे बुद्धि के बल पर समझने की कोशिश की गई है, जो देश और काल की सीमा के परे हैं, उसे दो-चार-दस पृष्ठों में बाँध डालने की साहसिकता दिखाई गई है। कहते हैं, समस्त पुराण और महाभारतीय संहिता लिखने के बाद व्यासदेव ने अत्यन्त अनुताप के साथ कहा था कि 'हे अधिल विश्व के गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है, फिर भी मैंने ध्यान के द्वारा इन ग्रन्थों में रूप की कल्पना की है, आप अनिर्वचनीय हैं, व्याख्या करके आपके

स्वरूप को समझा सकना सम्भव नहीं है, फिर भी मैंने स्तुति के द्वारा व्याख्या करने की कोशिश की है। वाणी के द्वारा प्रकाश करने का प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्मांण्ड के प्रत्येक अणु-परमाणु में तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादि विधान से उस व्यापित्व को खंडित किया है। भला जो सर्वत्र परिव्याप्त है, उसके लिए तीर्थ विशेष में जाने की क्या व्यवस्था? सो हे जगदीश, मेरी बुद्धिगत विकलता के ये तीन अपराध-अरूप की रूपकल्पना, अनिर्वचनीय का स्तुतिनिर्वचन, व्यापी का स्थान-विशेष में निर्देशकृतुम क्षमा करो।' क्या व्यास जी के महान् आदर्श का पदानुसरण करके इस लेखक को भी यही कहने की जरूरत है?

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्,
स्तुत्या निर्वचनीयता खिलगुरोदूरी कृतायन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदशी, तद् विकलता-दोषत्रयं मत्कृतम्॥

वृद्धावस्था में यश और कीर्त्ति ने उन्हें बहुत कष्ट दिया। उसी हालत में उन्होंने बनारस छोड़ा और आत्मनिरीक्षण तथा आत्मपरीक्षण करने के लिये देश के विभिन्न भागों की यात्राएँ कीं। इसी क्रम में वे कालिंजर जिले के पिथौराबाद शहर में पहुँचे। वहाँ रामकृष्ण का छोटा सा मन्दिर था। वहाँ के संत भगवान गोस्वामी जिज्ञासु साधक थे, किंतु उनके तर्कों का अभी तक पूरी तरह समाधान नहीं हुआ था। संत कबीर से उनका विचार-विनिमय हुआ। कबीर की एक साखी ने उन के मन पर गहरा असर किया-

बन ते भागा बिहरे पड़ा, करहा अपनी बान।
करहा बेदन कासों कहे, को करहा को जान

मूर्त्ति पूजा को लक्ष्य करते हुए कबीरदास ने कहा है-

पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजौं पहार।
या ते तो चाकी भली, जासे पीसी खाय संसार

रूपातीत व्यंजना और खंडन मंडन

कबीरदास

प्रेम भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जानने वाला,

अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोक में अहंकार कहलाती है वह भगवतप्रेम के क्षेत्र में, स्वाधीनभर्तृका नायिका के गर्व की भाँति अपने और प्रिय के प्रति अखंड विश्वास की परिचायक हैय जो बात लोक में दब्बूपन और कायरता कहलाती है, वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान के प्रति भक्त का अनन्य परायण आम्तार्पण होती है और जो बातें लोक में परस्पर विरुद्ध जँचती हैं भगवान के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है। लोक में ऐसे जीव की कल्पना नहीं की जा सकती, जो कर्णहीन होकर भी सब कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो, जो छोटे-से-छोटा भी हो और बड़े-से-बड़ा भी, जो एक भी हो और अनेक भी जो बाहर भी हो भीतर भी, जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी, जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय सेवक भीय जिसमें समस्त गुणों का आरोप भी किया जा सके और गुणहीनता का भी, और फिर भी जो न इन्द्रिय का विषय हो, न मन का, न बुद्धि का। परन्तु भगवान के लिए सब विशेषण सब देशों के साधक सर्व-भाव से देते रहे हैं। जो भक्त नहीं हैं, जो अनुभव के द्वारा साक्षात्कार किए हुए सत्य में विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्क में उलझकर रह जाते हैंय पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहिं-सगुणहिं नहिं कछु भेदा' (तुलसीदास)। परन्तु तर्क परायण व्यक्ति इस कथन के अटपटेपन को वदतो-व्याघात कहकर संतोष कर लेता है।

यदि भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो नि:सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्त के लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं, जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं। भगवान के अनिवर्चनीय स्वरूप को भक्त ने जैसा कुछ देखा है वह वाणी के प्रकाशन क्षेत्र के बाहर हैं, इसीलिए वाणी नाना प्रकार से परस्पर विरोधी और अविरोधी शब्दों के द्वारा उस परम प्रेममय का रूप निर्देश करने की चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थता पर नहीं जाता, वह उसकी रूपातीत व्यंजना को ही देखता है। भक्ति तत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है, जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्व की उपलब्धि में बाधक है। यह बात ही समाज सुधार और साम्प्रदाय

ऐक्य की विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह भी फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

कबीरदास का भक्त रूप

कबीरदास का यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच से बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदासे ने इस बात को हजार तरीके से कहा है। इस भक्ति या भगवान के प्रति अहैतुक अनुराग की बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत सी बातें कहनी पड़ीं हैं, जो भक्ति नहीं हैं। पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक हैं। मूल वस्तु चूँकि वाणी के अगोचर है, इसलिए केवल वाणी का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की और इशारा किया है, उसे ध्वनित किया गया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यजंना, कथन के जरिए अकथ्य का ध्वनन, काव्य-शक्ति का चरम निर्देशन नहीं तो क्या है? फिर भी ध्वनित वस्तु ही प्रधान हैय ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है—बाइप्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।

व्यक्तित्व

हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास, परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सबकुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।

आकर्षक वक्ता

कबीर की वाणियों में सबकुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-असाधारण जीवन रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सम्भाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में संतोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाए तो और क्या कहा जाए? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कविरूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छंदोयोजना, उचित-वैचित्र्य और अलंकार विधान पूर्ण-रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न ही कायल। अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्व के कारण ही वे सहृदय को आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है, जो उन्हें अन्यान्य संतों से विशेष बना देता है।

सादगी और सहजभाव

यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट और आनंदमय लोक की बात करते हैं जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी बताते हैं जहाँ पर बारह महीने बसंत रहता है, निरन्तर अमृत की झड़ी लगी रहती है। फिर भी जैसा की एवेलिन अंडरहिल ने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनदिन-व्यवहार की दुनिया के साथ धरती पर जमे रहते हैं, उनके महिला-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्ध तथा सहज भाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं, जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होने वाली विशेषताएँ हैं–

सादगी और सहजभाव पर निरन्तर जोर देते रहना,

बाह्य धर्माचारों की निर्मम आलोचना, और

सब प्रकार के विरागभाव और हेतु प्रकृतिगत अनुसंधित्सा के द्वारा सहज ही गलत दिखने वाली बातों को दुर्बोध्य और महान् बना देने की चेष्टा के प्रति वैर-भाव।

इसीलिए वे साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावों को ग्राह्य बनाने में सदा सफल दिखाई देते हैं। कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गए हैं। सच पूछा जाए तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिए उनके संत-रूप के साथ ही उनका कवि-रूप भी बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु ही नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

महान् समाज सुधारक

कबीर ने ऐसी बहुत सी बातें कही हैं, जिनसे (अगर उपयोग किया जाए तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म समन्सय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है। वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पाई जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना, परन्तु आजकल सर्व-धर्म समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है, वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अन्तर संस्कारों में कुछ न कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थहीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बड़े से बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्त्तित हों या उच्च से उच्च समझी जाने वाली धर्म पुस्तक से उपदिष्ट हों। बाह्याचार की निरर्थक और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेमभक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और संभ्रम का भाव भी उनके पदों में नहीं मिलता, परन्तु वे मनुष्यमात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे। जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं, परन्तु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारों की संख्या में लोग सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्त्तक मानने में ही गौरव अनुभव करते हैं।

जीवन दर्शन

कबीर परमात्मा को मित्र, माता, पिता और पति के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं-

हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया। तो कभी कहते हैं-

हरि जननी मैं बालक तोरा। उस समय हिंदू जनता पर मुस्लिम आतंक का कहर छाया हुआ था। कबीर ने अपने पंथ को इस ढंग से सुनियोजित किया जिससे मुस्लिम मत की ओर झुकी हुई जनता सहज ही इनकी अनुयायी हो गयी। उन्होंने अपनी भाषा सरल और सुबोध रखी ताकि वह आम आदमी तक पहुँच सके। इससे दोनों सम्प्रदायों के परस्पर मिलन में सुविधा हुई। इनके पंथ मुसलमान-संस्कृति और गोभक्षण के विरोधी थे। कबीर को शांतिमय जीवन प्रिय था और वे अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि गुणों के प्रशंसक थे। अपनी सरलता, साधु स्वभाव तथा संत प्रवृत्ति के कारण आज विदेशों में भी उनका आदर होता है।

धर्मगुरु

कबीर धर्मगुरु थे। इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए, परन्तु विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूप में उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है। समाज-सुधारक के रूप में, सर्व-धर्मसमन्वयकारी के रूप में, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायक के रूप में भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो 'हरि अनंत हरिकथा अनंता, विविध भाँति गावहिं श्रुति-संता' के अनुसार कबीर कथित हरि की कथा का विविध रूप में उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी-कभी उत्साहपरायण विद्वान् गलती से कबीर को इन्हीं रूपों में से किसी एक का प्रतिनिधि समझकर ऐसी-ऐसी बातें करने लगते हैं, जो कि असंगत कही जा सकती हैं।

हिन्दू-मुस्लिम एकता

जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं, वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं सिद्ध है, उसे भी सम्प्रदाय बुद्धि से

विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में एकता का प्रतिपादन किसी ने भी नहीं किया है। पर जो लोग उत्साहधिक्यवश कबीर को केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैगम्बर मान लेते हैं। वे उनके मूल स्वरूप को भूलकर उसके एक देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या 'दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं पर कोशिश नहीं की और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं, 'तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दु से धार्मिक द्वन्द्वों को देखते ही न थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध निर्वाचन में और अपथ्य वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है, तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्यचारवर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वस का अविश्लेष्य सीमेंट भी कार्य करेगा।

इसी अर्थ में कबीरदास हिन्दू और मुसलमानों के ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा की आरम्भ में ही कहा गया है, कबीरदास को केवल इन्हीं रूपों में देखना सही नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवान पर उनका अविचल अखंड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना ही नहीं चाहता, उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास ही है। वे अपने उपदेश साधु भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुनने वाला न मिले तो वे निश्चित होकर स्वयं को ही पुकार कर कह उठते: 'अपनी राह तू चले कबीरा !' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदास की महिमा

जो लोग इन बातों से ही कबीरदास की महिमा का विचार करते हैं वे केवल सतह पर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति जो इतने क्षेत्रों को उदभासित कर सकी है, सो मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है, परन्तु यह समझना कि उदभासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उदभासित पदार्थ ज्योति की ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ पर है, इस बात का निर्देश देते हैं। ऊपर-ऊपर, सतह पर चक्कर काटने वाले समुद्र भले ही पार कर जाएँ, पर उसकी गहराई की थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियों का लेखक अपने को सतह का चक्कर काटने वालों से विशेष नहीं समझता। उसका दृढ़ विश्वास है कि कबीरदास के पदों में जो महान् प्रकाशपुंज है, वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है। वह संग्रहालय की चीज नहीं है, बल्कि जीवित प्राणवान वस्तु है। कबीर पर पुस्तकें बहुत लिखी गई हैं और भी लिखी जाएँगी, पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधना कि गहराई तक जाने की चेष्टा करते हों। राम की वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गई थी, पर उसकी गहराई का पता तो मंदर पर्वत को ही था, जिसका विराट शरीर आपाताल-निमग्न हो गया था:

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम्
आपाताल–निमग्न–पीवरतनुर्जानाति मंद्राचलः।

सो, कबीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगाने वाला ही समझ सकता है। कबीरदास ने स्वयं अरूप को रूप देने की चेष्टा की थी। परन्तु वह स्वयं कह गए हैं कि ये सारे प्रयास तभी तक थे, जब तक की परम प्रेम के आधार प्रियतम् का मिलन नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्ति के साधन हैं, मार्ग हैं। गंतव्य तक पहुँच जाने पर मार्ग का हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरों की व्याख्या के प्रयास को क्या कहा जाए? ये तो साधन को समझाने के साधन-साधन के भी साधन हैं।

कबीर जी के काव्यिक विशेषताएँ

भक्ति साहित्य की निर्गुण शाखा में संत कबीरदास ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, वैसी न तो उनसे पहले और न बाद में ही किसी अन्य को मिली।

उनके समकालीन भक्त-कवियों ने भी बहुत सम्मान से कबीर का नाम लिया है और उनके प्रभाव को स्वीकारा है। आज भी बहुत बड़ी संख्या में लोग कबीर के अनुयायी हैं।

कबीर का जन्म काशी में ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा, संवत 1456 को हुआ माना जाता है। इनके जन्म के बारे में एक किंवदंती प्रचलित है कि स्वामी रामानंद ने एक बार भूलवश अपने किसी भक्त ब्राह्मण की विधवा कन्या को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया। फलस्वरूप उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लोक-भय से लहरतारा ताल के पास फेंक आई। वहाँ से नीरू नामक मुसलमान जुलाहा उसे अपने घर ले गया और पुत्रवत उसका लालन-पालन करने लगा। कालांतर में यही बालक कबीरदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बचपन से ही कबीर में हिंदू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति स्पष्ट थी और वे 'राम-राम' जपा करते थे। उस समय सारे भारत में रामानुज की शिष्य परंपरा के स्वामी रामानंद का प्रभाव फैल रहा था। एक बार कबीर भी उनके शिष्यत्व की आस में पहर रात रहते पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर जाकर लेट गये जहाँ स्वामी जी प्रतिदिन स्नान करने आते थे। अंधेरे में उनका पैर कबीर को लग गया और वे अनायास 'राम-राम कह' बोल पड़े। इसी को कबीर ने गुरुमंत्र मान लिया और स्वयं को रामानंद का शिष्य कहने लगे।

अनेक साधुओं के सत्संग में कबीर ने ज्ञानार्जन किया। इन में नाथ-सिद्ध परंपरा के जोगी भी थे, वैष्णव साधु भी और सूफी फकीर भी। इसी क्रम में कबीर प्रसिद्ध सूफी शेख तकी से भी मिले जिन्हें कबीर के मुसलमान अनुयायी इनका गुरु मानते हैं। परंतु कबीर ने शेख तकी का नाम कहीं भी उस श्रद्धा से नहीं लिया जिससे स्वामी रामानंद का लिया है या जिस से गुरु का लिया जाता है। इन सबके विचारों का कबीर पर सम्यक प्रभाव पड़ा और उनके 'राम' स्वामी रामानंद के साकार राम न रहकर ब्रह्म का प्रतीक हो गये।

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।

कबीर ने इन सभी मतों से कुछ बातें लेकर अपना पंथ चलाया। इसके लिये उन्होंने अद्वैत की अवधारणा भारतीय ब्रह्मवाद से ली तो वैष्णवों से अहिंसा और सभी में ईश्वर का वास होने की विचार लिया। नाथ-सिद्धों से उन्होंने अंतस्साधना की विधि ग्रहण की तो सूफी फकीरों से प्रेम का तत्व लिया। वे अत्यंत प्रखर बुद्धि के स्वामी थे। अनपढ़ होने के बावजूद उन्होंने अपने काव्य

में अनेक सुंदर और चमत्कारी बिंब और रूपकों का समावेश करते हुए, सामान्य जनता पर अपने ज्ञान और भक्ति की धाक जमा ली थी। उनका विषद प्रभाव इसी से पता चल जाता है कि आज भी सामान्य जनता में कबीर के जितने दोहे और सबद लोकप्रिय हैं उतने अन्य किसी ज्ञानमार्गी संत के नहीं। इनके बिंब और अन्योक्तियों की एक झलक देखें–

सूर समाना चंद में, दहूँ किया घर एक।
मन का चिंता तब भया कछू पुरबिला लेख॥
है कोई गुरुज्ञानी जगत मँह उलटि बेद बूझै।
पानी मँह पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै॥

उनके काव्य का प्रमुख विषय विभिन्न धर्मों में व्याप्त कुरीतियों व अंधविश्वासों का विरोध करते हुए अपने विचारों का प्रचार करना है। इस क्रम में उन्होंने तत्कालीन समाज में फैली बुराइयों पर कड़ा प्रहार किया और शायद इसी कारण उनकी गिनती धर्मसुधारकों में होती है। जहाँ हिंसा के लिये वे लोगों को फटकारते हैं–

बकरी पाती खाति है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल॥

वहीं धर्म के बाह्याडंबरों पर भी उनका स्वर कमजोर नहीं पड़ता–

कंकड़ पाथर जोड़कर, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ मुल्ला बाँग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥
गहना एक कनक तें गहना, इन मँह भाव न दूजा।
कहन-सुनन को दुइ करि थापिन, इक नमाज इक पूजा॥

कबीर की काव्य भाषा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'सधुक्कड़ी' कहते हैं जिसमें तत्कालीन सर्वस्वीकृत काव्य-भाषा ब्रज के अलावा अवधी, खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबी तक का प्रयोग मिलता है। इससे उनके सन्संग और देशाटन का स्पष्ट परिचय मिलता है। काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों में भी एक और तो वैष्णवों के माया, जीव, तत्वमसि, पंचभूत, अष्ट-मैथुन हैं तो दूसरी तरफ हठयोगियों के चंद, सूर, नाद, बिंदु आदि प्रतीक हैं। सूफी परंपरा की दाम्पत्य प्रेम-पद्धति का भी अनुकरण कई जगह उन्होंने किया है।

साईं के संग सासुर आई।
संग न सूती स्वाद न जाना, गा जीवन सपने की नाईं॥

जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माढ़ो छायो।
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर स्वयं अनपढ़ थे। उनके उपदेशों का संग्रह संवत 1521 में उनके शिष्य धर्मदास ने 'बीजक' नाम से किया। संवत 1561 में कबीर का देहावसान मगहर में हुआ जहाँ वे मगहर में मृत्यु होने पर नर्क मिलने के अंधविश्वास के निराकरण के लिये अंतिम समय में काशी छोड़कर जा बसे थे।

अंत में कबीर के ब्रज भाषा में लिखे एक पद के साथ, हम उनके व्यक्तित्व व कृतित्व को समझने के अपने इस क्षुद्र प्रयास को विराम देते हैं-

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि ऐसी व्यापी मोहि॥
नैन हमारे तुम्हकों चाहैं, रती न मानै हारि।
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि॥
सुनहु हमारी दादि, गोसाई, अब जनि करहु अधीर।
तुम धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काँचे भाँड़े नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधे धीर।
देह छता तुम मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर॥

1. उनकी कविता में छंद, अलंकार, शब्दशक्ति आदि गैण हैं और संदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान है। इन संदेशों में आने वाले पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, पथप्रदर्शक तथा संवेदना की भावना सन्निहित है।
2. कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादि, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करने वाले मर्यादा के रक्षक कवि थे। उन्होंन स्वतः कहा हैरू 'तुम जिन जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार'।
3. कवि के रुप में कबीर जीवन के अत्यंत निकट हैं। सहजता उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता है।
4. उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है–'मैं कहता हूँ आंखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी'।
5. कबीर की अभिव्यंजनाशैली बड़ी शक्तिशाली है। प्रतिपाद्य के एक-एक अंग को लेकर इस निरीक्षण कवि ने सैकड़ों साखियों की रचना की है यऔर प्रत्येक साखी में अभिनवता है। उन्होंने ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग, हठयोग आदि विषयों को बड़े सुबोध रूप में व्यक्त कर दिया है।

6. उनके काव्य में बुद्धि तत्व की प्रधानता है। किंतु वह शुष्क या निराश नहीं है। आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत आदि का विवेचन निरस विषय है, परंतु कबीर ने इनके समाधान के लिए सरल भाषा, भावमयी, अनुभूतियों तथा कल्पना आदि का सहारा लिया है।
7. कबीर के काव्य में भावना तत्व की प्रचुरता है। यदि वे कोरे बुद्धि वादी होते, तो उनकी रचनाओं में भावना पक्ष का अभाव होता, किंतु सत्य यह है कि भावनात्मक स्थलों पर उनके काव्य में रसात्मकता भी है।
8. उनकी कविता में कल्पना या कविता या प्रतिभा के दर्शन सर्वत्र होते हैं, किंतु व्यर्थ की कल्पनाओं के पीछे भटकना उनका लक्ष्य नहीं था। उनकी कल्पना शक्ति में व्यवहारिकता तथा कलात्मकता का सुंदर समंसम है।
9. कबीर के काव्य में दांपत्य एवं वात्सल्य के द्योतक प्रतीकों का सुंदर प्रयोग हुआ है। उनकी रचनाओं में सांकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्या मुलक प्रतीक, रूपात्मक प्रतीक तथा प्रतीकात्मक उलटवांसियों के सुंदर उदाहरण मिलते हैं।
10. कबीर जी की काव्य की भाषा खिचड़ी या सधुककड़ी है, जो खड़ी बोली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी तथा उर्दू-फारसी मिश्रित बोलचाल की भाषा है।

सत्य तो यह है की कव्य रचना उनका साध्य या लक्ष्य नहीं था। फिर भी अपने महान संदेशों की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें काव्य को माध्यम बनाना पड़ा। इस प्रकार रहस्यवादी संत और धर्मगुरु होने के साथ-साथ वे भाव प्रबण कवि भी थे।

3

मीरा साहित्य में बिंब योजना

मीराबाई अथवा मीराबाई हिन्दू आध्यात्मिक कवयित्री थीं, जिनके भगवान श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित भजन उत्तर भारत में बहुत लोकप्रिय हैं। भजन और स्तुति की रचनाएँ कर आमजन को भगवान के और समीप पहुँचाने वाले संतों और महात्माओं में मीराबाई का स्थान सबसे ऊपर माना जाता है। मीरा का संबंध एक राजपूत परिवार से था। वे राजपूत राजकुमारी थी, जो मेड़ता महाराज के छोटे भाई रतन सिंह की एकमात्र संतान थीं। उनकी शाही शिक्षा में संगीत और धर्म के साथ-साथ राजनीति व प्रशासन भी शामिल थे। एक साधु द्वारा बचपन में उन्हें कृष्ण की मूर्ति दिए जाने के साथ ही उनकी आजन्म कृष्ण भक्ति की शुरुआत हुई, जिनकी वह दिव्य प्रेमी के रूप में आराधना करती थीं।

कुल एवं जन्म

कृष्ण दीवानी मीरा का संबंध राठौड़ों की एक उपशाखा मेड़तिया वंश से था। मीराबाई जोधपुर के संस्थापक सुप्रसिद्ध राठौड़ राजा जोधा जी के पुत्र राव दूदा जी की पौत्री थीं। राव दूदा जी ने अपने पिता के जीवन काल में ही, मेड़ता प्रान्त को अपने भाई वीरसिंह की सहायता से अजमेर के सूबेदार से छीनकर उसके अन्तर्गत एक नया मेड़ता नगर बसाया था। मीराबाई राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह की इकलौती सन्तान थीं।

राव दूदाजी की दो रानियाँ थीं। उनसे पाँच पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। इनमें से चौथे पुत्र का नाम रत्नसिंह था।

मीरा का जन्म कब हुआ, इस विषय में मीराकालीन कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। उनकी रचनाओं में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जिसके आधार पर उनकी जन्मतिथि का निश्चित निर्णय किया जा सके।

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री, तिथि-गणना तथा ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य के आधार पर डा. प्रभात ने मीरा की जन्मतिथि श्रावण सुदी 1 शुक्रवार, संवत् 1561 निर्धारित की है।

मीरा के पितामह दूदाजी भी धर्मात्मा व्यक्ति थे। वे उदार वैष्णव थे। उन्होंने मेड़ता नागौर, राजस्थान में श्री चतुर्भुजनाथ जी के मंदिर का निर्माण कराया था।

भक्त पितामह के कारण मीरा के परिवार में धार्मिक भावनाओं की प्रधानता स्वाभाविक थी। मीरा में भगवत-प्रेम के संस्कार बचपन से ही विद्यमान थे।

बाल्यावस्था

मीराबाई के बचपन की घटनाओं में प्रसिद्ध है कि उन्हें अपनी शैशवावस्था में ही श्री कृष्ण का इष्ट हो गया था। एक बार किसी समय जब उनके पिता के घर कोई साधु आकर ठहरा, तो उसकी पूजा में श्री कृष्ण की सुन्दर मूर्ति देखकर वे उसकी ओर आकृष्ट हो गयीं। उसे लेने के लिए वे जिद करने लगीं, किन्तु साधु उसे देने से इनकार कर वहाँ से चला गया। मीरा ने हठपूर्वक अपना खाना-पीना तक छोड़ दिया। उस साधु को स्वप्न हुआ कि मूर्ति को मीरा के हाथ सौंप देने में ही तुम्हारा कल्याण है, जिससे विवश हो उसे ऐसा करने के लिए फिर वापस आना पड़ा। बालिका मीरा कृष्ण मूर्ति को अपनाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसे सदा अपने पास रखने लगीं।

मीरा के मन में कृष्ण के प्रति इतना लगाव कैसे पैदा हुआ? उन्हें अपने आराध्य कृष्ण की मूर्ति कैसे प्राप्त हुई? इस विषय में एक घटना अत्यधिक प्रसिद्ध है।

एक बार किसी की बारात जा रही थी। मीरा के मन में जिज्ञासा हिलोरें लेने लगीं।

बाजे की आवाज को सुनकर उन्होंने महल की ऊपरी मंजिल से नीचे झाँककर देखा।

उन्होंने बारात की ओर इशारा करते हुए अपनी माँ से पूछा, ''यह क्या है?''

''यह बारात है।'' माँ ने सहज भाव से उत्तर दिया।

''बारात क्या होती है माँ?'' मीरा ने जिज्ञासा प्रकट की।

माँ ने मीरा की उत्सुक जिज्ञासा को शांत करते हुए कहा, ''बारात वह होती है, जिसमें वर ओर उसके परिवार वाले कन्या के घर बाजे-गाजे के साथ जाते हैं।''

एक और प्रश्न मीरा ने किया, ''यह वर क्या होता है, माँ?''

माँ ने समझाया, ''वर वह लड़का होता है, जिसका किसी कन्या से विवाह होता है।''

मीरा बारात और वर को उत्सुकता से देखने लगी। उसने विचार किया कि कन्या तो वह भी है। जब हर कन्या का वर होता है तो उसका भी कोई वर अवश्य होगा।

जब उसे निश्चय हो गया तो उसने माँ से एक सवाल किया, ''माँ, मेरा वर कौन है?''

माँ इस प्रश्न के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थी। क्या उत्तर दें इस भोले प्रश्न का? मीरा थी कि बार-बार एक ही प्रश्न कर रही थी, ''मेरा वर कौन है?''

परेशान माँ की दृष्टि कक्ष में स्थापित गिरिधर गोपाल कृष्ण की मूर्ति पर पड़ी।

बच्ची मीरा को बहलाने का एक उपाय उनके मन में कौंध उठा। उन्होंने गोपाल कृष्ण की मूर्ति की ओर संकेत कर दिया, ''यही है तुम्हारा वर।''

माँ ने सोचा कि अबोध बालिका के अनजान प्रश्नों से मुक्ति पाने का सबसे सरल उपाय यही है।

किंतु मीरा। उसने तो गिरिधर गोपाल कृष्ण को अपने मन और प्राण दोनों अर्पित कर दिए।

मन-ही-मन उसने गिरिधर गोपाल कृष्ण को अपना आराध्य मान लिया।

शिक्षा

मीराबाई की माता उन्हें छोड़कर बाल्यावस्था में ही चल बसीं। मेड़ता में राव दूदा जी के साथ उस समय उनके बड़े लड़के वीरमदेव जी का एक पुत्र जयमल भी रहा करता था।

मीराबाई की प्राथमिक शिक्षा से मेड़ते में पूर्ण हुई थी। अन्य आवश्यक बातों के साथ-साथ उन्हें, समयानुसार काव्य-कला एवं संगीतादि के अभ्यास का भी अवसर मिला था। मेवाड़ का राजवंश उन दिनों संगीत एवं साहित्यादि के प्रेमी विद्वान् प्रसिद्ध महाराणा कुम्भा के कारण पूरा विख्यात हो चुका था। अतएव, अपनी ससुराल में भी उन्हें, यथासम्भव, अपनी योग्यता के विकास के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होता गया। जहाँ तक पता है, कुँवर भोजराज ने अपने जीवन-काल में उनके उत्साह में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचायी। उनके मरणोपरान्त भी अपनी कठोर स्थिति को सहन करने में इन साधनों से वे बराबर सहायता लेती रहीं। मीराबाई ने कदाचित् इसी काल में अपनी कुछ उपलब्ध रचनाएँ प्रस्तुत की थीं और अधिकांश पदों को अपने इष्टदेव के समक्ष गा-गाकर उन्हें रिझाने की चेष्टा भी की थी।

विवाह संबंध

राव वीरमदेव जी ने मीरा का विवाह, मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा सांगा के पुत्र कुंवर भोजराज के साथ निश्चित किया। मीरा मेड़ते से अपनी ससुराल मेवाड़ आकर, प्रथानुसार महल में 'मेड़तणी' कहलाकर प्रसिद्ध हो चलीं। उनका वैवाहिक जीवन भी अपने पति के साथ सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा, परन्तु कुंवर भोजराज अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। संयोगवश, उनका देहान्त किसी समय अपने पिता के जीवन-काल में ही हो गया।

तत्कालीन राजस्थान में पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी के सती हो जाने का नियम था। स्त्रियों के सती होने का एक सामाजिक कारण भी था। उस समाज में हिंदू-नारी के लिए विवाह सबसे बड़ा अभिशाप बन गया था।

मीरा का सांसारिक सौभाग्य-सिंदूर छिन्न अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया था, किंतु गिरिधर कृष्ण के अखंड सौभाग्य का रंग सदा के लिए उन पर छा गया।

उनके जीवन की सारी क्रियाएँ, राग-विराग से मुक्त हो एकमात्र अपने आराध्य कृष्ण में ही एकनिष्ठ हो गईं। मीरा के किसी भी पद में पति शोकजन्य उद्‌गार न मिलने का यही कारण है।

उनका लौकिक विरह कृष्ण-प्रेम का अटूट-प्रेम बनकर उनके गीतों में फूट पड़ा।

मीराबाई की साधु-संतों से संगत

डॉ. ओमप्रकाश त्रिपाठी की पुस्तक 'भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का पुनर्मूल्याँकन' में लिखा है कि मीराबाई की भक्ति मात्र एकांगिक नहीं थी। अनेक विद्वानों का मत है कि वह एक सामाजिक चुनौती के रूप में प्रकट हुई थीं। मीरा ने अनुभव किया कि राणा अत्याचारी है और दुर्भावनाग्रस्त भी है। इसकी प्रतिक्रियावश उनके मन में विद्रोह भाव जागा। इसीलिए उन्होंने राज-मर्यादा को त्याग कर सन्तों का सान्निध्य ग्रहण किया। मीरा सन्तों के साथ वन-वन भटकने और नाचने-गाने लगी थी, जिससे राज परिवार में उनकी स्थिति विवादास्पद हो गई। तत्कालीन सामन्ती मर्यादा तथा राजकीय व्यवस्था के अनुसार जितनी वर्जनाएँ की गयी, मीरा का विद्रोह उतना ही बिगड़ता गया। उन्होंने अनेक पदों में यह घोषणा की है कि वे किसी भी स्थिति में सन्तों का साथ नहीं छोड़ेगी, जैसे-

मीरा की प्रीति लगी संतन सूं साधु हमारी आत्मा
संतन पर तन मन वारूं, संतन संगि बैठि-बैठि लोक लाज खोई
साथ संग भटकी, सब संतन के मन भायी
रमरया साधा री साथा, साधु हमारे सिर थड़ी
साधु मायर नाथ, साधु थारे संग सुख पाहयो
साथा करस्यां साथ की, साथा मण्डल साथ की
साथा संग रहूंगी, साधु ही पीहर सासुरो
म्हारे साथा से इक्त्यार, मीरा के हरिजन मिल्या
सन्ता हाथ बिकानी, सन्ता री संगति नहीं छोडूँ

मीराबाई पर की गयी सख्ती का मूल कारण था, उनका साधु-सन्तों के साथ उठना-बैठना। लगभग सभी संत शूद्र वर्ण से संबंध रखने वाले थे। इसी बात की पुष्टि में मीरा आगे कहती हैं-

'मैं तो नाहीं रहूँ, राणा जी थारा देश में।'

भाषा

भाषा को लेकर भी विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मारवाड़ी भाषा में स्थान की अन्य भाषा-छवियाँ भी विद्यामान हैं। फिर मीराबाई की भाषा

में गुजराती, ब्रज और पंजाबी भाषा के प्रयोग भी मिलते भी हैं। मीराबाई अन्य संतों नामदेव, कबीर, रैदास आदि की भाँति मिली-जुली भाषा में अपने भावों को व्यक्त करती हैं। उनके पदों की संख्या भी अभी तक सुनिश्चित नहीं की जा सकी है। खोज एवं शोध अभी तक जारी है। कुछ समय पूर्व 'लूर' का मीराँ विशेषांक प्रकाशित हुआ था। इसमें मीराबाई द्वारा गाए गए 41 पद दिए गए हैं। इन्हें 'हरजस' नाम दिया गया है, जिन्हें लोक द्वारा विभिन्न अवसरों पर गाया जाता है। कुछ शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट किए गए हैं। अतः कहना होगा कि इस दिशा में शोध कार्य अभी जारी है। कोई सर्वमान्य, स्वीकार्य निर्णय अभी शेष है।

तीर्थ यात्रा

लगातार युद्ध आदि से मेड़ता की भी दशा उन दिनों बुरी हो चुकी थी। मेड़ता और जोधपुर के राज्यों के बीच ही अनबन चल रही थी। तदनुसार जोधपुर के राव मालदेव ने राव वीरमदेव जी से मेड़ता छीन लिया और मीराबाई की दैनिकचर्या स्वभावतः अव्यवस्थित-सी हो गयी। उपर्युक्त घटनाओं के कारण मीराबाई के ऊपर इस समय ऐसी विरक्ति का रंग चढ़ा कि उन्होंने मेड़ता को भी त्यागकर तीर्थ यात्रा करने की ठान ली और तीर्थ यात्रा करती हुई वे वहाँ से वृन्दावन पहुंच गयीं। कहते हैं कि वृन्दावन में उस समय प्रसिद्ध रूपगोस्वामी के भतीजे चैतन्य-सम्प्रदायी श्री जीव गोस्वामी जी रहा करते थे। और वहां के साधुओं में वे परम प्रसिद्ध थे। मीराबाई सर्वप्रथम कदाचित् उन्हीं के पास गयीं। गोस्वामी जी ने पहले उनसे मिलना स्वीकार नहीं किया किया और कहला भेजा कि मैं स्त्रियों से नहीं मिला करता, परन्तु मीराबाई के इस सन्देश पर कि ''मैं तो अब तक समझती थी कि वृन्दावन में भगवान् कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और अन्य सभी लोग केवल गोपी या स्त्री-रूप हैं, मुझे आज ज्ञात हुआ कि भगवान् के अतिरिक्त अपने को पुरुष समझनेवाले यहाँ और भी विद्यमान हैं।'' गोस्वामी जी अत्यन्त प्रभावित हुए और तुरन्त नंगे पाँव बाहर आकर उनसे मिले। इसके उपरान्त मीराबाई कुछ दिनों तक, कदाचित् उसी स्थान पर ठहरी रही। गोस्वामी जी के साथ उनका सत्संग भी होता रहा, कुछ सालों बाद मीरा वृन्दावन छोड़कर द्वारिकाधाम गुजरात चली गयीं और यहाँ पर श्री रणछोड़ (कृष्ण) जी की भक्ति में तल्लीन रहने लगी।

मीराबाई की रचनाएँ

गीत गोविन्द टीक

सोरठा के पद

राग गोविन्द

नरसी जी रो मायरो।

उपर्युक्त चारों रचनाएँ मीरा की पदावली के नाम से संग्रहित और प्रकाशित हुई।

भावपक्ष

मीरा भक्तिकालीन कवयित्री थी। सगुण भक्ति धारा में कृष्ण को आराध्यमानकर इन्होंने कविताएँ की।

गोपियों के समान मीरा भी कृष्ण को अपना पति मानकर माधुर्य भाव सेउनकी उपासना करती रही।

मीरा के पदों में एक तल्लीनता, सहजता और आत्मसमर्पण का भाव सर्वत्रविद्यमान है।

मीरा ने कुछ पदों में रैदास को गुरू रूप में स्मरण किया है तो कहीं-कहीं तुलसीदास को अपने पुत्रवत स्नेह पात्र बताया है।

कलापक्ष

मीरा की काव्य भाषा में विविधता दिखला देती है। वे कहीं शुद्ध ब्रजभाषाका प्रयोग करती हैं तो कहीं राजस्थानी बोलियों का सम्मिश्रण कर देती हैं।

मीराबा को गुजराती कवयित्री माना जाता है, क्योंकि उनकी काव्य की भाषा में गुजराती पूर्वी हिन्दी तथा पंजाबी के शब्दों की बहुतायत है पर इनके पदों का प्रभाव पूरे भारतीय साहित्य में दिखला देता है।

इनके पदों में अलंकारों की सहजता और गेयता अद्‌भुत हैं, जो सर्वत्रमाधुर्य गुण से ओत-प्रोत हैं।

मीराबा ने बड़े सहज और सरल शब्दों में अपनी प्रेम पीड़ा को कविता में व्यक्त किया है।

साहित्य में स्थान

कृष्ण को आराध्य मानकर कविता करने वाली मीराबा की पदावलियाँ हिन्दी साहित्य के लिए अनमोल हैं। कृष्ण के प्रति मीरा की विरह वेदना सूरदास की गोपियों से कम नहीं है तभी तो सुमित्रानंदन पंत ने लिखा है कि ''मीराबा राजपूताने के मरूस्थलकी मन्दाकिनी हैं।'' 'हेरी मैं तो प्रेम दीवाणी, मेरो दर्द न जाने कोय।' प्रेम दीवाणी मीरा का दर्द हिन्दी में सर्वत्र व्याप्त है।

केन्द्रीय भाव-

मीरा के पदों का वैशिष्ट्य उनकी तीव्र आत्मानुभूति में निहित है। मीरा के काव्यका विषय है–श्रीकृष्ण के प्रति उनका अनन्यप्रेम और भक्ति। मीरा ने प्रेम के मिलन(संयोग) तथा विरह (वियोग) दोनों पक्षों की सुंदर अभिव्यक्ति की है। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेममें मीरा किसी भी प्रकार की बाधा या यातना से विकल नही होती। लोक का भय अथवा परिवार की प्रताड़ना दोनों का ही वे दृढ़ता के साथ सामना करती हैं।

मीरा के प्रमुख पद

मीराबाई की महानता और उनकी लोकप्रियता उनके पदों और रचनाओं की वजह से भी है। ये पद और रचनाएँ राजस्थानी, ब्रज और गुजराती भाषाओं में मिलते हैं। हृदय की गहरी पीड़ा, विरहानुभूति और प्रेम की तन्मयता से भरे हुए मीराबाई के पद अनमोल संपत्ति हैं। आँसुओं से भरे ये पद गीतिकाव्य के उत्तम नमूने हैं। मीराबाई ने अपने पदों में 'श्रृंगार रस' और 'शांत रस' का प्रयोग विशेष रूप से किया है।

मैं तो गिरधर के रंग राती
सखी री मैं तो गिरधर के रंग राती
पचरंग मेरा चोला रंगा दे, मैं झुरमुट खेलन जाती
झुरमुट में मेरा सांई मिलेगा, खोल अडम्बर गाती
चंदा जाएगा, सुरज जाएगा, जाएगा धरण अकासी।
पवन पाणी दोनों ही जाएंगे, अटल रहे अबिनासी
सुरत निरत का दिवला संजो ले, मनसा की कर बाती।
प्रेम हटी का तेल बना ले, जगा करे दिन राती
जिनके पिय परदेश बसत हैं, लिखि लिखि भेजें पाती

मेरे पिय मो माहिं बसत है, कहूं न आती जाती
पीहर बसूं न बसूं सासघर, सतगुरु सब्द संगाती।
ना घर मेरा ना घर तेरा, मीरा हरि रंग राती

भावार्थ

इस पद के माध्यम से मीराबाई ने कृष्णभक्ति की अप्रतिम भावनाओं को व्यक्त किया है। आत्मा-परमात्मा के मिलन को वह बहुत सहज ढंग से व्यक्त करती है। मीराबाई कहती-सुनो सखी! आत्मा पाँच आंतरिक धुनों के रंग में रंगा चोला पहनकर नेत्रों के केंद्र रूपी झुरमुट में खेलने जाती है। कर्मकांड और बाहरी क्रियाओं के वस्त्र उसके अंतर में जाने की राह में बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। उन्हें वह उतार फेंकती है। फिर अवश्य ही हरि को ढूंढ लेती हे। पाँचों तत्व, सूर्य, चंद्र और तारामंडल से भी आगे आत्मा दैवीय मंडलों में भ्रमण करने लगेगी। परमात्मा आत्मा के रूप में निज-शरीर में ही वास करता है। वह प्रेम के दीपक के प्रकाश से ही अंतर में प्रकट होता है। मीराबाई कहती है कि जिनके पति परदेश बसते हैं उनकी प्रियतमा पत्र के माध्यम से संदेश भेजा करती है लेकिन मेरे प्रियतम (परमात्मा) तो मेरे मन (आत्मा) में ही बसते हैं, कहीं आते-जाते नहीं।

प्यारे दर्शन दीजो आय
प्यारे दर्शन दीजो आय, तुम बिन रह्यायो न जाय।
जल बिन कमल, चंद बिन रजनी, ऐसे तुम देख्यां बिन सजनी
आकुल व्याकुल फिरूं रैन दिन, विरह कलेजा खाय
दिवस न भूख नींद नहिं रैना, मुख के कथन न आवे बैनां
कहा करूं कुछ कहत न आवै, मिल कर तपत बुझाय
क्यों तरसाओ अतंरजामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी।
मीरा दासी जनम जनम की, परी तुम्हारे पायं

भावार्थ

विरह वेदना में तडपती मीरा हरि के दर्शन को उतावली है। बिना हरि दर्शन के वह हमेशा बेचौन रहती है। प्रभु के दर्शन की इच्छा ने उसकी भूख, प्यास और नींद भी छीन ली है। मीरा समझ नहीं रही कि कैसे वह अपनी व्यथा का वर्णन करे। गिरधारी से क्या छिपा है। मीरा याचक बनकर कहती है कि हे प्रभु! मेरे दु:ख और संताप को देखकर अब तो चले आओ।

आवन की मनभावन की
कोई कहियौ रे प्रभु आवन की, आवन की मन भावन की।
आप न आवै लिख नहिं भेजै, बांण पडी ललचावन की।
ऐ दोई नैणा कह्यौ नहिं मानैं, नदियां बहै जैसे सावन की।
कहा करूं कछु नहिं बस मेरो, पांख नहिं उड जावन की।
मीरा कहै प्रभु कब रै मिलोगे, चेरी भई हूँ तेर दावंण की

भावार्थ

मीरा अपने प्रीतम श्रीकृष्ण की याद में तडप रही है। वह कहती है कि हे ईश्वर न तो स्वयं आप मेरी–सुधि लेते हैं और न ही कोई संदेश भेजते हैं। मुझे प्रतीत होता है कि आपको मुझे सताने की आदत सी पड गई है। मीरा कहती है कि उसका कोई वश नहीं चलता है। पंख होता तो अपने प्रियतम से मिलने के लिये उडकर चली आती।

चरण कंवल अवणासी
भज मन चरण कंवल अवणासी।
जेताई दीसां धरण गगन मां, तेताई उठ जासी।
तीरथ बरतां ग्यांण कथंता, कहा लियां करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा माटी मां मिल जासी।
यो संसार चहर री बाजी, सांझ पड्यां उठ जासी।
कहां भयां थां भगवां पहर्यां, घर तज लयां संन्यासी।
जोगी होयां जुगत णां जाणा, उलट जणम फिर फाँसी।
अरज करा अबला कर जोरया, स्याम तुम्हारी दासी।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, काट्यां म्हारो गांसी

भावार्थ

मीराबाई जगत् की मिथ्या से पूरी तरह परिचित थीं। ईश्वर को एकमात्र सहारा मानने वाली मीराबाई कहती हैं कि–हे मेरे मन, तू निरंतर अविनाशी के चरणकमलों की वंदना कर। इस धरती व गगन में जो कुछ दीख रहा है, वह सब नाशवान है। तीर्थयात्राएँ, व्रत या ज्ञान चर्चा करना अथवा काशी में जाकर आश्रय लेना व्यर्थ है। बस, मन से वंदना करना ही पर्याप्त है। इस देह पर कभी गर्व मत करना, यह तो एक दिन मिट्टी में मिल जानी है। इस संसार को तो यों जान, जैसे यह चिडिया की बाजी (खेल) हो, जिसे सांझ पडते ही उड जाना है। क्या हुआ जो तूने भगवा धारण कर लिया या घर त्याग कर सन्न्यास ले

लिया। इससे मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति के लिए मन से वंदना करना ही पर्याप्त है। ऐसे जोगी होने का क्या तुक कि सिद्धि की विधि ही नहीं जानी जा सके और जन्म-जन्मांतर के आवागमन की फाँसी गले में लगी रहे। हे 'याम! मैं तुम्हारी दासी हूँ, मुझ पर दया दृष्टि बनाए रखना। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! तुम्हीं दुनियादारी के बंधनों को काट कर मुझे मुक्त कर देना।

राम नाम रस पीजै
राम नाम रस पीजै, राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुण लीजै।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूं बहा चित्त से दीजै।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, ताहि के रंग भीजै

भावार्थ

मीरा जन-जन को परामर्श देती है कि तुम राम नाम का रस पियो, इसका बडा चमत्कारी परिणाम होता है। नित्य कुसंगत का त्याग करके सत्संग में जाकर बैठो और हरि चर्चा सुनकर जीवन को सार्थक बनाओ। चित्त में काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह की जो कुप्रवृतियाँ घर कर गई हैं, उनको वहाँ से बहाकर निर्मल हो जाओ। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! मैं तो तुम्हारे रंग में भीग गई हूँ।

दरद न जाण्यां कोय
हेरी म्हां दरदे दिवाणी म्हारां दरद न जाण्यां कोय।
घायल री गत घाइल जाण्यां, हिवडो अगण संजोय।
जौहर की गत जौहरी जाणै, क्या जाण्यां जिण खोय।
दरद की मार्यां दर दर डोल्यां बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा री प्रभु पीर मिटांगां जब बैद सांवरो होय।।

भावार्थ

भगवान् के प्रेम में व्याकुल होकर मीराबाई कहती हैं कि हे सखी! मुझसे विरह की पीडा सही नहीं जाती। मैं विरह के मारे दीवानी हुई जा रही हूँ किंतु मेरे दर्द को कोई समझ नहीं पाता। इसे तो वही समझ सकता है, जिसके हृदय में विरहाग्नि सुलग रही हो। मुझ घायल की गति तो कोई घायल ही समझ सकता है। जौहरी ही रत्न का मूल्यांकन कर सकता है, वह क्या करेगा जिसने अपना रत्न गंवा दिया हो। मैं वियोग में दर्द की मारी-मारी दर-दर डोल रही हूँ, किंतु ऐसा कोई वैद्य नहीं मिला जो मेरा इलाज कर

सके। हे मीरा के प्रभु! मेरी पीडा तो तभी मिटेगी जब मेरा सांवरा वैद्य कृष्ण आकर मेरा इलाज करेगा।

हरि नाम लौ लागी
अब तो हरि नाम लौ लागी।
सब जग को यह माखनचोर, नाम धर्यो बैरागी।
कहं छोडी वह मोहन मुरली, कहं छोडि सब गोपी।
मूंड मुंडाई डोरी कहं बांधी, माथे मोहन टोपी।
मातु जसुमति माखन कारन, बांध्यो जाको पांव।
स्याम किशोर भये नव गोरा, चैतन्य तांको नांव।
पीताम्बर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै।
दास भक्त की दासी मीरा, रसना कृष्ण रटे।।

भावार्थ

मीराबाई कहती हैं कि–अब तो मैंने हरि के नाम से लगन लगा ली है। सारे जग में वह माखनचोर के नाम से विख्यात है, जबकि उसे वैरागी कहा जाता है। पता नहीं वह अपनी मोहक मुरली कहाँ छोड आया और उसकी सारी गोपियां कहा गई। सिर मुंडवा कर न जाने कहाँ डोर बांधी, अब माथे पर मन मोहने वाली टोपी भी नहीं है। कभी वह खूब माखन चुराता था, इस कारण माता यशोमती उसके पांव बांधती थी। वही 'याम किशोर अब गोरे हो गए और उनका नाम चौतन्य हो गया। उनके पीतांबर को भाव दिखाकर कमर पर कौपीन (लंगोटी) कस लिया। मीरा तो भक्तों के दास हरि की दासी है, मेरी जिह्वा सदा उसी का नाम रटती है।

राम रतन धन पायो
पायो जी म्हे तो रामरतन धन पायो।।

भावार्थ

भक्ति की महिमा का गुणगान करते हुए मीराबाई कहती हैं कि मैंने तो रामनाम के रत्नों का धन पा लिया। मेरे सतगुरु ने मुझे कृपापूर्वक यह अनमोल वस्तु प्रदान की है जिसे मैंने खुशी-खुशी अपना लिया। जनम-जनम की पूँजी क्या पा गई हूँ कि जग की सारी मोह-माया न जाने कहाँ लुप्त हो गई। यह पूँजी कभी खर्च नहीं होगी और न ही कोई चोर उठा कर ले जाएगा, बल्कि दिन ब दिन इसमें सवाया वृद्धि होती है। सत्य की नाव का खेवनहार सतगुरु होता है,

इस प्रकार मैंने भवसागर पार कर लिया। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! तुम्हारी माया अपरंपार है। तुम्हारा यशगान करते हुए मैं अत्यंत हर्षित होती हूँ।

हरि चरणन की चेरी
पलक न लागै मेरी स्याम बिना।
हरि बिनू मथुरा ऐसी लागै, शशि बिन रैन अंधेरी।
पात पात वृन्दावन ढूंढ्यो, कुंज कुंज ब्रज केरी।
ऊंचे खडे मथुरा नगरी, तले बहै जमना गहरी।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, हरि चरणन की चेरी।

भावार्थ

मीराबाई कहती हैं कि–हे मेरे 'याम! तुझसे ऐसी लगन लगी है कि तेरे वियोग में मेरी पलकें एक पल को भी नहीं झपकतीं। हरि के बिना मुझे मथुरा नगरी ऐसी लगती है जैसे चंद्र के बिना रात को अंधेरा छा गया हो। मैंने वृंदावन जाकर पत्ते-पत्ते में उसे ढूँढा और ब्रज जाकर कुंज-कुंज में झांक लिया, मगर वह मुझे कहीं भी नहीं मिला। मथुरा नगरी ऊंचाई पर खडी है और उसके नीचे गहरी यमुना नदी बह रही है। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! मैं तो हरि के चरणों की दासी हूँ, अतः मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करो।

म्हारा जीवन प्राण अधार
हरि म्हारा जीवन प्राण अधार।
और आसिरो णा म्हारा थें बिण, तीनूं लोक मंझार।
थें बिण म्हाणो जग ण सुहावां, निरख्यां सब संसार।
मीरा रे प्रभु दासी रावली, लीज्यो णेक णिहार।।

भावार्थ

मीरा इस सत्य को भरीभाँति जानती थी कि ईश्वर ही सभी जीवों के प्राण के आधार हैं। वह कहती है कि मेरे हरि, तू ही मेरे जीवन व प्राण का आधार है, तेरे बिना मैं निराश्रित हूँ। सच कहती हूँ, इन तीन लोकों में तुम्हारे बिना मेरा कोई अन्य आसरा है ही नहीं, तुम्हारे बिना मुझे यह जग नहीं सुहाता। मैंने सारा संसार देख लिया, एक तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, अन्यत्र कहीं मन नहीं लगता। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! यह दासी केवल तुम्हारी है, अतः मेरा हाल-चाल लेने के लिये मेरी ओर भी निहार लेना।

हरि बिन कछू न सुहावै
परम सनेही राम की नीति ओलूंरी आवै।

राम म्हारे हम हैं राम के, हरि बिन कछू न सुहावै।
आवण कह गए अजहुं न आये, जिवडा अति उकलावै।
तुम दरसण की आस रमैया, कब हरि दरस दिलावै।
चरण कंवल की लगनि लगी नित, बिन दरसण दुरूख पावै।
मीरा कूं प्रभु दरसण दीज्यौ, आंणद बरण्यूं न जावै।।

भावार्थ

मीराबाई कहती है कि परम स्नेही की रीति-नीति की मुझे बहुत याद आती है। राम हमारा और हम राम के हैं, एक-दूसरे के एकदम अभिन्न। सच तो यह है कि हरि के बिना कुछ भी नहीं सुहाता। मुझसे आने की कह गए थे, किंतु समझ में नहीं आता, अब तक क्यों नहीं आए। उनके बिना हृदय बहुत आकुल रहता है। मेरे रमैया, तुम्हारे दर्शनों की आस में हूँ, पता नहीं हरि कब दर्शन दिलाएंगे। नित्य चरणकमल से लगन लगाए बैठी हूँ और तुम्हारे दर्शन के बिना दुरूख पा रही हूँ। हे मीरा के प्रभु! दर्शन दो, तुम्हारे दर्शन से जो आनंद मिल सकता है, उसका मैं बखान नहीं कर सकती।

होली खेल्या स्याम संग
रंग भरी राग भरी रागसूं भरी री।
होली खेल्या स्याम संग रंग सूं भरी, री।
उडत गुलाल लाल बदला रो रंग लाल, पिचकां उडावां।
रंग रंग री झरी, री।
चोवा चन्दण अरगजा म्हा, केसर णो गागर भरी री।
मीरा दासी प्रभु गिरधरनागर, चेरी चरण धरी री।

भावार्थ

मीराबाई अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ होली खेलना चाहती है। उनकी इच्छा है कि रंग, रास और प्रीत भरी मैं 'याम के संग होली खेलूं और रंगों से नहाऊं। चतुर्दिक लाल गुलाल उड रहा है और बादलों का रंग भी लाल हो गया है पिचकारियों से रंग उड रहे हैं। जहाँ देखो, वहाँ रंग-ही-रंग की झडी लगी हुई है। मेरी गागर में चोवा, चंदन, अरगजा और केसर की सुंगधियाँ भरी हुई हैं। मीरा तो गिरधरनागर की दासी है। इस दासी ने तेरे चरणों की शरण ली है। प्रभु अपनी कृपादृष्टि बनाए रखना।

कोई कहै कुलनासी
मेरे मन राम बसी।

तेरे कारण स्याम सुन्दर, सकल जोगां हांसी।
कोई कहै मीरा भई बावरी, कोई कहै कुलनासी।
कोई कहै मीरा दीप आग री, नाम पिया सूं रासी।
खांड धार भक्ति की न्यारी, काटी है जम की फाँसी।।

भावार्थ

मीरा कहती हैं-मेरे मन में राम बसा हुआ है। मेरे 'यामसुंदर, तेरे कारण जग वाले मेरी हंसी उडाते हैं। कोई कहता फिरता है कि मीरा बावरी हो गई है तो कोई यहाँ तक कह देता है कि मीरा कुल-नाशी है। कोई कहता है कि मीरा अग्नि की भाँति दहक रही है। जिसको जो कहना है कहता रहे, मैं तो अपने पिया का नाम लेने में ही लीन हूँ। यह जो भक्ति की तलवार की धार है, उसकी शान निराली है। यही यम के फंदे से सदैव के लिए मुक्ति दिला देती है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराती है।

होरी खेलत है गिरधारी
होरी खेलत है गिरधारी।। ..पूरा पढ़ें

भावार्थ

कृष्ण की अप्रतिम भक्ति से ओतप्रोत मीरा अपने प्रियतम के होली खेलने का आनंद ले रही है। वह कहती हैं-मेरा गिरधारी होली खेल रहा है। मुरली, चंग और डफ के निराले स्वर गूंज रहे हैं, इनकी ताल पर ब्रज की युवतियां व नारियां गा और नाच रही हैं। अपने ही हाथों से मोहन बिहारी चंदन व केसर छिडक रहा है। अपनी मुट्ठियों में लाल गुलाल भर-भर कर चारों ओर सब पर डाल रहा है। छैल-छबीले नवल कान्हा के साथ प्राण प्यारी राधा भी हैं। सब हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर धमार राग की धुन पर गा रहे हैं। रसिक सांवरा झूम-झूमकर जिस विधि से फाग खेल रहा है। उसके कारण ब्रज में भारी उल्लास छा गया है। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! कान्हा की छवि बडी अद्भुत है। वह मोहने वाला है, वह लाल भी है। उसकी आभा आरुणिक है और वह बिहारी भी है, यानी रस छिडकता चलता है।

जागो मोरे प्यारे
जागो बंसी वारे ललना, जागो मोरे प्यारे।।

भावार्थ

बालकृष्ण के मनमोहक छवि को अपने मन में बसाकर मीराबाई ने इस पद की रचना की। जागो मेरे बंसीवाले लाल, जागो मेरे प्यारे। रात बीत गई और

सुबह हो गई है। घर-घर के दरवाजे खुल गए हैं और लोग काम-काज में जुट गए हैं। गोपियां दही मथ रही हैं। उनके कंगनों की झंकार सुनाई देती है। उठो मेरे लालजी, सुबह हो गयी है। तुम्हारे द्वार पर देवता व मनुष्य दर्शनों के लिये खडे हैं। सारे ग्वाल-बाल जमा होकर कोलाहल कर रहे हैं और तुम्हारी जय-जयकार के नारे लगा रहे हैं। गऊओं के रखवाले, मैं तुम्हारे लिए हाथों में माखन-रोटी लेकर खडी हूँ, जल्दी से उठकर आ जाओ। हे मीरा के प्रभु गिरधरनगार! जो तुम्हारी शरण में आता है तुम उसे अवश्य तारते हो।

म्हारां री गिरधर गोपाल
म्हारां री गिरधर गोपाल दूसरां णा कूयां।
दूसरां णां कूयां साधां सकल लोक जूयां।
भाया छांणयां, वन्धा छांड्यां सगां भूयां।
साधां ढिग बैठ बैठ, लोक लाज सूयां।
भगत देख्यां राजी ह्यां, ह्यां जगत् देख्यां रूयां
दूध मथ घृत काढ लयां डार दया छूयां।
राणा विषरो प्याला भेज्यां, पीय मगण हूयां।
मीरा री लगण लग्यां होणा हो जो हूयां।।

भावार्थ

भगवत् प्रेम में मगन मीराबाई कहती हैं कि मेरे तो बस एक गिरधर गोपाल ही हैं, दूसरा कोई नहीं है। मैंने सारा संसार छान मारा, किंतु उसके जैसा मुझे कोई और नजर नहीं आया। उसने मुझे इस प्रकार वशीभूत कर लिया कि मैंने भाई-बंधु और सारे सगे-संबंधियों तक को छोड दिया। साधुओं के साथ बैठ-बैठकर लोक-लाज भी त्याग दी। भक्त पर नजर पडते ही हर्ष होता है। जगत की अफरातफरी देखकर मन खिन्न होता है। मैंने तो दूध मथकर घी निकाल लिया और छाछ फेंक दी है। राणा ने विष का प्याला भेजा तो उसे पीकर मैं मगन हो गई हूँ। मीरा ने तो गिरधर गोपाल से लगन लगा ली, अब तो जो होना हो, होने दो।

लियो रमैया मोल
माई मैं तो लियो रमैया मोल।
कोई कहै छानी, कोई कहै चोरी, लियो है बजता ढोल।
कोई कहै कारो, कोई कहै गोरो, लियो है अखीं खोल।
कोई कहै हल्का, कोई कहै महंगा, लियो है तराजू तोल।

तन का गहना मैं सबकुछ दीन्हा, दियो है बाजूबन्द खोल।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, पूरब जनम का कोल।।

भावार्थ

भक्ति की पराकाष्ठा का परिचायक है यह पद। भगवान् तो हमेशा भक्त के वश में होते हैं। मीरा कहती है कि–मैंने तो रमैया को मोल लिया है। कोई कहता है कि मैंने लुक–छिप कर मोल लिया है। कोई कहता है कि चोरी की है, जबकि मैंने ढोल बजाकर खुलेआम लिया है। कोई कहता है रमैया काला है, कोई कहता है कि गोरा है, जबकि कान खोलनकर भलीभाँति परख लिया है। कोई कहता है कि हलका है, कोई कहता है कि महंगा है, जबकि मैंने तराजू में तौलकर लिया है। जिसके पास रमैया हो उसे किसी और चीज की आवश्यकता नहीं होती। अतः मैंने तन के गहने रमैया के बदले में दे दिए। बाजूबंद भी खोल दिया है। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! तुम पूर्वजन्म का वचन निभाते हुए मेरी लाज रख लो।

झूठी जगमग जोति
आवो सहेल्या रली करां हे, पर घर गावण निवारि।
झूठा माणिक मोतिया री, झूठी जगमग जोति।
झूठा सब आभूषण री, सांचि पियाजी री पोति।
झूठा पाट पटंबरारे, झूठा दिखणी चीर।
सांची पियाजी री गूदडी, जामे निरमल रहे सरीर।
छप्प भोग बुहाई दे है, इन भोगिन में दाग।
लूण अलूणो ही भलो है, अपणो पियाजी को साग।
देखि बिराणै निवांण कूं हे, क्यूं उपजावै खीज।
कालर अपणो ही भलो है, जामें निपजै चीज।
छैल बिराणे लाख को हे अपणे काज न होइ।
ताके संग सीधारतां हे, भला न कहसी कोइ।
वर हीणों आपणों भलो हे, कोढी कुष्टि कोइ।
जाके संग सीधारतां है, भला कहै सब लोइ।
अबिनासी सूं बालवां हे, जिपसूं सांची प्रीत।
मीरा कूं प्रभु मिल्या हे, ऐहि भगति की रीत।।

भावार्थ

जगत् के मिथ्या स्वरूप से भली–भाँति परिचित मीरा अपनी सखियों को भी यह राज बताना चाहती हैं। वह कहती है–आओ सहेलियों, हम खेले–कूदें, पराये

घर आने-जाने का परित्याग करें। अपनी आत्मा का मंथन करें ताकि काया के आवागमन का सिलसिला समाप्त हो। ये माणिक-मोती सब मिथ्या हैं। जगमग करती ज्योति भी मिथ्या है। भौतिक पदार्थो में उलझने का कोई लाभ नहीं है। सबकुछ नाशवान है। ये सारे आभूषण भी मिथ्या हैं। सच है तो सिर्फ पिया यानी भगवान् की प्रीति। ये रेशमी कपडे व दक्षिणी साडियां भी मिथ्या हैं। बस पियाजी की गूदडी ही सच है, जिसमें शरीर निर्मल बना रहता है। छप्पन भोगों का त्याग करो, इन भोगों से दाग लगता है। अपने पिया जी का नमक या बिना नमक का साग ही भला है। दूसरे की घी चुपडी रोटी देखकर खीजना नहीं चाहिए। अपनी नोनी मिट्टी जमीन ही भली, जिससे कोई चीज तो बनाई जा सकती है। पराया छैल-छबीला लाख का हो, किंतु अपने काम का नहीं होता। उसके साथ मेल-जोल किया जाए तो उसे कोई भला नहीं कहता। अपना वर चाहे हीन, कोढी या कुष्ठ रोगी ही क्यों न हो, वही भला होता है। उसके साथ मेल-जोल किया जाए तो सब उसे भला कहते हैं। मेरे बालम तो अविनाशी हैं। उसकी प्रीत सच्ची है। मीरा को तो प्रभु मिल गया, वही मेरा सर्वस्व है, उसकी प्रीत मुझे भली लगती है। बाकी सब कुछ मिथ्या है, यही भक्ति की रीत भी है।

नित उठ दरसण जास्यां
माई म्हां गोविन्द, गुण गास्यां।
चरणम्रति रो नेम सकारे, नित उठ दरसण जास्यां।
हरि मन्दिर मां निरत करावां घूंघर्यां छमकास्यां।
स्याम नाम रो झांझ चलास्यां, भोसागर तर जास्यां।
यो संसार बीडरो कांटो, गेल प्रीतम अटकास्यां।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, गुन गावां सुख पास्यां।।

भावार्थ

मीरा कहती हैं कि मेरी माई, लोग कुछ भी कहते रहें, मैं तो सदा गोविंद के गुण ही गाऊंगी। चरणामृत का नियम निभाने नित्य प्रात:काल उठकर उसके दर्शन करने जाया करूंगी। हरि मंदिर में जाकर नृत्य करूंगी और घुंघरू छमकाऊंगी। 'याम नाम का झांझ बजाऊंगी और इस प्रकार भवसागर तर जाऊंगी। यह संसार तो मुझे बेरी के कांटों-सा चुभता हुआ प्रतीत होता है। प्रीतम मुझे ऐसे संसार में अटकाकर न जाने कहाँ चला गया है। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! तेरे गुण गाते हुए मुझे सुख की प्राप्ति होती है, मैं तो सदा तेरे गुण गाऊंगी।

चरण कमल लपटाणी
राणाजी ने जहर दियो म्हे जाणी।
जैसे कन्चन दहत अगनि मे, निकसत बाराबाणी।
लोकलाज कुल काण जगत् की, दइ बहाय जस पाणी।
अपणे घर का परदा करले, मैं अबला बौराणी।
तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे, गरक गयो सनकाणी।
सब संतन पर तन मन वारों, चरण कंवल लपटाणी।
मीरा को प्रभु राखि लई है, दासी अपणी जाणी।।

भावार्थ

मीराबाई कहती हैं कि राणा जी, आपने मुझे जहर दिया था, यह मैं जानती हूँ। इसके बावजूद मैंने उसे चुपचाप पी लिया। फिर क्या हुआ? जैसे सोना आग में जलकर चमकता हुआ बाहर निकलता है, उसी प्रकार जहर पीकर मेरी प्रीत और अधिक प्रगाढ व हार्दिक बन गई। अब मेरे लिए जगत् की लोक-लाज और कुल के सम्मान का कोई महत्त्व नहीं रहा। मैंने इन सबको वैसे ही बहा दिया है जैसे पानी का रेला बहा दिया। राणाजी मैं तो कहती हूँ कि अपने घर का परदा कर लो, मेरा कोई भरोसा नहीं, मैं अबला बौरा गई हूँ। मेरी कौन-सी हरकत तुम्हारे कुल को आहत कर दे, मैं नहीं जानती। हरि प्रीत के तरकस का तीर मेरे हृदय में बिंध गया है और मैं पगला गई हूँ। मैंने अपना तन-मन, सर्वस्व संतों पर वार दिया है और हरि के चरणकमलों से लिपट गई हूं। हे मीरा के प्रभु! मुझे अपनी दासी जानकर अपने चरणों में स्थान दे दो, अब और कहीं मन नहीं लगता।

गिरधर के घर जाऊँ
मैं तो गिरधर के घर जाऊं।
गिरधर म्हांरो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊं।
रैण पडै तब ही उठि जाऊं, भोर गये उठि आऊं।
रैणदिना बाके सेंग खेलूं, ज्यूं त्यूं वाहि रिझाऊं।
जो पहिरावै होई पहिरूं, जो दे सोई खाऊं।
मेरी उणकी प्रीत पुरानी, उण बिन पल न रहाऊं।
जहां बैठावें तितही बैठूं, बेचे को बिक जाऊं।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, बार बार बलि जाऊं।।

भावार्थ

कृष्ण के प्रेम सरोवर में डूबी मीरा कहती हैं कि मैं तो गिरधर के घर जाती हूँ। गिरधर मेरा सच्चा प्रेमी है। उसे देखते ही उसके रूप से मैं लुब्ध हो जाती हूँ। रात होते ही मैं उसके घर जाती हूँ और सुबह होते ही वहाँ से उठकर घर वापस आती हूँ। दिन-रात उसी के संग खेलती हूँ। मैं हर प्रकार से उनको प्रसन्न रखने का प्रयास करती हूँ, जो वह पहनने को देता है वही पहनती हूँ। जो खाने को देता है वही खाती हूँ, मेरी उसकी पुराणी प्रीत है। उसके बिना एक पल भी नहीं रहा जाता। वह जहाँ बिठाता है, वहीं बैठती हूँ। वह मुझे बेचना भी चाहे तो मैं चुपचाप बिक जाऊंगी। हे प्रभु गिरधरनागर! तुम पर मैं बार-बार बलि जाती हूँ।

अमृत दीन्ह बनाय
मीरा मगन भई हरि के गुण गाय।
सांप पिटारा राणा भेज्यों, मीरा हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गई पाय।
जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय।
न्याह धोय जब पीवण लागी, हो अमर अंचाय।
सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यो, मीरा सुलाय।
सांझ भई मीरा सोवण लागी, मानो फूल बिछाय।
मीरा रे प्रभु सदा सहाई, राखे बिघन हटाय।
भजन भाव में मस्त बोलती, गिरधर पै बलि जाय।।

भावार्थ

मीरा हरि के गुण गाती हुई मगन हो रही है। राणा ने सांप की पिटारी भिजवाई थी और लाने वाले ने जाकर मीरा के हाथों में थमा दी। नहा-धोकर जब वह पिटारी खोलकर देखने लगी तो उसे पिटारी से शालिग्राम की प्राप्ति हुई। राणा ने जहर का प्याला भेजा और बताया कि अमृत है। नहा-धोकर जब उसने उसे पी लिया तो मानो सचमुच अमृत पीकर वह अमर हो गई। राणा ने शूलों की सेज भेजकर कहा कि इस पर मीरा को सुलाना। सांझ को मीरा उस पर सोई तो उसे ऐसा लगा मानो वह फूलों की सेज पर सोई हो। प्रभु मीरा की सदैव सहायता करते हैं और उसके विघनें को टालते रहते हैं। मीरा निश्चित होकर भजन-भाव में मगन होकर डोलती फिरती है और गिरधर पर बलि-बलि जाती है।

नसदिन जोऊ बाट
जोगिया जी निसदिन जोऊ बाट।
पांव न चालै पंथ दूहेलोय आडा औघट घाट।
नगर आइ जोगी रस गया रे, मो मन प्रीत न पाइ।
मैं भोली भोलापण कीन्हो, राख्यौ नहिं बिलमाइ।
जोगिया कूं जोवत बोहो दिन बीत्या, अजहूं आयो नाहिं।
बिरह बुझावण अन्तरि आवो, तपन लगी तन माहिं।
कै तो जोगी जग में नाहीं, केर बिसारी मोइ।
कांइ करूं कित जाऊंरी सजनी नैण गुमायो रोइ।
आरति तेरा अन्तरि मेरे, आवो अपनी जांणि।
मीरा व्याकुल बिरहिणी रे, तुम बिनि तलफत प्राणि।।

भावार्थ

प्रभु के प्रेम में मीरा विरहिणी बन चुकी है। वह हमेशा अपने प्रियतम नंदलाल की राह देखा करती है। मेरे जोगिया जी, मैं रात-दिन निरंतर तुम्हारी बाट जोहती हूँ। प्रेम की डगर बडी दुष्कर है, इस आडे और संकरे पथ पर कदम रखना बडे जोखिम का काम है। नगर में जाकर जोगी ऐसा रम गया है कि सुध-बुध खो बैठा और मेरे मन में प्रीत की थाह का अनुमान नहीं लगा सका। मैं भोली थी और भोलापन ही करती रही, इसलिए तो मैं उसे प्रेम में फांस न सकी। जोगी जी, मेरे अंतर में जो विरहाग्नि सुलग रही है, उसे बुझाने को आओ। मेरा सारा शरीर तप रहा है। मुझे तो लगता है कि जोगी जग में कहीं खो गया है, या उसने मुझे भूला दिया है। रात-दिन रो-रोकर मैंने तो अपनी आँखों को ही खराब कर लिया है। मेरा अंतर तुम्हारी चाहत में तडप रहा है, मुझे अपना मानकर आ जाओ। मीरा कहती है कि मैं तुम्हारे दर्शन पाने को व्याकुल विरहिणी हो रही हूँ। तुम जल्दी आन मिलो प्रीतम, तुम्हारे बिना मेरे प्राण तडपते हैं।

मुरली कर लकुट लेऊँ
गोहनें गुपाल फिरूं, ऐसी आवत मन में।
अवलोकन बारिज बदन, बिबस भई तन में।
मुरली कर लकुट लेऊं, पीत बसन धारूं।
काछी गोप भेष मुकट, गोधन संग चारूं।
हम भई गुलफाम लता, बृन्दावन रैना।

पशु पंछी मरकट मुनी, श्रवन सुनत बैनां।
गुरुजन कठिन कानि कासौं री कहिए।
मीरा प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए।।

भावार्थ

मीरा कहती है कि मेरे मन में ऐसा विचार आता है कि सदैव गोपाल के साथ-साथ घूमूं–फिरूं। उसका कमल जैसा मुखडा देख करके मेरा तन विवश हो जाता है। जी करता है कि हाथ में मुरली व छडी लूँ और पीले वस्त्र धारण करूं। फिर गोप का वेश बनाकर और सिर पर मुकुट धरकर गोधन (गउओं) के साथ विचरती फिरूं। इस कल्पना से मीरा इतना विमुग्ध होती है कि उसे प्रतीत होता है, वह तो वृंदावन की धूल बन गई है और यहां के पशु, पक्षी, वानर व मुनियों की वाणी अपने कानों में सुन रही है। गुरुजनों की बडी कठोर मर्यादाएँ हैं, मैं तो अपने मन की बात उनको बता नहीं सकती। मीरा कहती है कि हे प्रभु, हे मेरे गिरधर! मेरी जैसी कल्पना है, उसी प्रकार मुझसे मिलकर रहिए।

लोक कहें मीरा भई बाबरी
कोई कछु कहो रे रंग लाग्यो, रंग लाग्यो भ्रम भाग्यो।
लोक कहै मीरा भई बाबरी, भ्रम दूनी ने खाग्यो।
कोई कहै रंग लाग्यो।
मीरा साधां में यूं रम बैठी, ज्यूं गूदडी में तागो।
सोने में सुहागो।
मीरा सूती अपने भवन में, सतगुरु आप जगाग्यो।
ज्ञानी गुरु आप जगाग्यो।

भावार्थ

कृष्ण के प्रेम में मगन मीरा कहती है कि कोई कुछ भी कहता रहे, मैं तो श्याम के रंग में रंग गई। उसकी प्रीत का गहरा रंग मुझे लग गया है और मेरे सारे भ्रम दूर हो गए हैं। लोग कहते हैं कि मीरा बावरी हो गई है, यह दुनिया का भ्रम है। कोई कहता है कि मीरा को श्याम का रंग लग गया है। वह साधुओं में जाकर यों रम गई है जैसे गुदडी में धागा समाहित होता है या जैसे सोने में सुहागा। मीरा कहती है कि मुझे श्याम के रंग का कहां ज्ञान था। मैं तो अपने भवन में निद्रामग्न थी कि सतगुरु स्वयं आकर मुझे जगा गए। गुरु की कृपा से ही मैं श्याम की प्रीत में रंग गई और मेरे सारे भ्रम भाग गए।

बन-बन बिच फिरूँ री
करणां सुणि स्याम मेरी।
मैं तो होई रही चेरी तेरी।
दरसण कारण भई बावरी बिरह बिथा तन घेरी।
तेरे कारण जोगण हूंगी नग्र बिच फेरी।
कुंज सब हेरी हेरी।
अंग भभूत गले म्रिघ छाला, यो तन भसम करूं री।
अजहूं न मिल्या, राम अबिनासी, बन बन बिच फिरूं री।
रोऊं नित टेरी-टेरी।
जन मीरा कूं गिरधर मिलिया, दुरूख मेटण सुख भेरी।
रूम रूम साता भई उर में, मिटि गई फेरा फेरी।
रहूं चरननि तरि चेरी।।

भावार्थ

कृष्ण की विरहाग्न में डूबी मीरा कती है–हे श्याम! मेरी करुण पुकार सुनो, मैं तो तेरी सदा-सदा की दासी हूँ। तेरा दर्शन पाने को पागल हुई जाती हूँ और विरह की वेदना ने मेरे तन को घेर लिया है। तेरे कारण मैं जोगन बन गई हूँ और नगर-नगर में भटकती फिरती हूँ। सारे कुंजों में तुम्हें खोज रही हूँ। अंग-अंग में भभूत और गले में मृगछाला डाल ली है। इस प्रकार तेरा यह तन भस्म कर रही हूँ। आज भी मुझे राम अविनाशी नहीं मिला। मैं वन-वन में उसको ढूंढती मारी-मारी फिर रही हूँ और उसे टेर-टेर कर नित्य रो रही हूँ। जब मीरा को गिरधर मिला, सुख देने वाले ने सारे दु:ख मिटा दिए। रोम-रोम व हृदय शांत पड गए हैं और मैं बार-बार जीने-मरने के मायाजाल से मुक्त हो गई हूँ। अब तुम्हारी यह दासी सदा तुम्हारे चरणों तले रहेगी।

हाड हिमालां गरां
सतबादी हरिचन्दा राजा, डोम घर णीरां भरां।
पाँच पांडु री राणी द्रुपता, हाड हिमालां गरां।
जाग कियां बलि लेन इन्द्रासन, जांयां पाताल करां
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, बिखरू अभ्रित करां।।

भावार्थ

भाग्य का लिखा अटल है, इसे नहीं टाला जा सकता। यह भाग्य के लिखे का ही फल है कि सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र को डोम के घर पानी भरने

की चाकरी करनी पडी थी। पाँच पांडवों की रानी द्रौपदी को हिमालय पर जाकर अपना शरीर गलाना पडा था। बलि ने इंद्रासन पर अधिकार जमाने के लिए यज्ञ किया था, किंतु भाग्य के लिखे ने उसे पाताल में जा पटका। मीरा के प्रभु तो गिरधरनागर हैं। वही भाग्यविधाता हैं, उन्हीं की इच्छा से विष भी अमृत बन जाता है।

चरण कमल पर वारी
आवत मोरी गलियन में गिरधारी।
मैं तो छुप गई लाज की मारी।
कुसुमल पाग केसरिया जामा, ऊपर फूल हजारी।
मुकुट ऊपर छत्र बिराजे, कुण्डल की छबि न्यारी।
केसरी चीर दरयाई को लेंगो, ऊपर अंगिया भारी।
आवत देखी किसन मुरारी, छिप गई राधा प्यारी।
मोर मुकुट मनोहर सोहै, नथनी की छबि न्यारी।
गल मोतिन की माल बिराजे, चरण कमल बलिहारी।
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है, सुणजे किसन मुरारी।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, चरण कमल पर वारी।।

भावार्थ

गिरधारी को अपनी गली में आते देखा तो लाज की मारी मैं छिप गई। उनके सिर पर लाल रंग की पगडी थी, तन पर केसरिया वस्त्र और ऊपर सहस्त्र दलों के पुष्प। मुकुट के ऊपर छत्र विराजमान था और कुण्डलों की छवि न्यारी। राधा ने केसरिया रंग की अंगिया पहन रखी थी। प्यारी राधा ने किशन मुरारी को आते देखा तो छिप गई। उनके माथे पर मोर-मुकुट सज रहा था और नथनी की छवि न्यारी थी। गले में मोतियों की माला विराज रही थी। मैं उनके चरणकमलों पर बलिहारी जाती हूँ। राधा प्यारी खडी विनती करती है कि किशन मुरारी, मेरी बात सुनकर जाओ। मीरा कहती है कि मेरे प्रभु तो गिरधरनागर हैं, उनके चरणकमलों पर वारी-वारी जाती हूँ।

णेणा बाण पडी
आली री म्हारे णेणा बाण पडी।
चित्त चढी म्हारे माधुरी मूरत, हिवडा अणी गढी।
कब री ठाडी पंथ निहारां, अपने भवण खडी।
अटक्यां प्राण सांवरो, प्यारो, जीवण मूर जडी।
मीरा गिरधर हाथ बिकाणी, लोक कह्यां बिगडी।।

भावार्थ

मीरा कहती हैं कि सखी री, मेरे नैनों को तो सदैव मनमोहन की मूरत निहारने की आदत पड गई है। मेरे चित्त पर उसकी मधुर मूरत ऐसी चढ गई है कि किसी और की सुध ही नहीं रहती। हृदय में इस मनमोहक मूरत की नोक हमेशा गडी रहती है। फिर इसमें किसी और की स्मृति कैसे समा सकती है। अपने भवन में खडी कब से मैं पथ निहार रही हूँ। मेरे प्राण उसी साँवले, प्यारे मनमोहन में अटके हुए हैं। वही मेरे जीवन का मूल है। मीरा कहती है कि मैं तो गिरधर के हाथों बिक चुकी हूँ और लोग कहते फिरते हैं कि मैं बिगड गई हूँ।

बैठी कदम की डारी

आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारी।
म्हारे गले पड्यो गिरधारी, हे माय, आज अनारी।
मैं जल जमुना भरन गई थी, आ गयो कृश्न मरारी।
ले गयो सारी अनारी म्हारी, जल में ऊभी उधारी।
सखी साइनि मेरी हंसत है, हंसि हंसि दे मोहिं तारी।
सास बुरी अर ननद हठीली, लरि लरि दे मोहिं गारी।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, चरण कमल की बारी।

भावार्थ

कृष्ण प्रेम में बिरहिणी बनी मीरा यहाँ अपनी कल्पना में गोपी बन जाती है और अपनी माँ से कह रही है कि कदंब की डाल पर छिपकर बैठा नटखट नागर आज मेरी साडी ले गया। आज तो नटखट गिरधारी मेरे पीछे पड गया। जब मैं यमुना में जल भरने गई थी, वहाँ कृष्ण मुरारी पहुँच गया। नटखट मेरी साडी ले गया और मैं जल में निर्वस्त्र खडी रही। मेरी हालत देखकर मेरी सखियां हंस-हंस कर मुझ पर तालियाँ बजा रही थीं। मेरी सास बुरी और ननद हठीली है, वे लडती-झगडती और मुझे गालियाँ देती हैं। मीरा के प्रभु गिरधरनागर हैं, मैं उनके चरणकमलों में वारी-वारी जाती हूँ।

भाग हमारा जागा रे

अब कोऊ कछु कहो दिल लागा रे।
जाकी प्रीति लगी लालन से, कंचन मिला सुहागा रे।
हंसा की प्रकृति हंसा जाने, का जाने मर कागा रे।
तन भी लागा, मन भी लागा, ज्यूं बाभण गल धागा रे।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, भाग हमारा जागा रे।।

भावार्थ

कृष्ण के प्रेम में भावविभोर होकर मीरा कहती है कि मैं अपने वश में नहीं, अब कोई कुछ भी कहता रहे, मेरा दिल तो मनमोहन से लगा है। जिसकी प्रीत मनमोहन से लग जाती है उसका जीवन सोने पर सुहागा जैसा होता है। वह कितना आह्लादित होता है, इसका अनुभव सिर्फ वही कर सकता है, कोई अन्य नहीं। हंस की प्रकृति सिर्फ हंस ही जान सकता है, बेचारा कौआ क्या जाने! मैंने तो कृष्ण प्रीति में तन-मन यों लगा दिया है जैसे ब्राह्मण के गले में जनेऊ। मीरा कहती है कि मेरे प्रभु तो गिरधरनागर हैं। उनसे प्रीति करके मेरे भाग्य जाग गए।

अमर बेल बोई
अब तो मेरा राम नाम दूसरा न कोई।।
माता छोडी पिता छोडे छोडे सगा भाई।
साधु संग बैठ बैठ लोक लाज खोई।।
सतं देख दौड आई, जगत् देख रोई।
प्रेम आंसु डार डार, अमर बेल बोई।।
मारग में तारग मिले, संत राम दोई।
संत सदा शीश राखूं, राम हृदय होई।।
अंत में से तंत काढयो, पीछे रही सोई।
राणे भेज्या विष का प्याला, पीवत मस्त होई।।
अब तो बात फैल गई, जानै सब कोई।
दास मीरा लाल गिरधर, होनी हो सो होई।।

भावार्थ

मीरा के लिये भगवत् प्रेम से बढकर कुछ नहीं था। भगवान् को पाने के लिये मीरा ने सर्वस्व त्याग कर दिया। माँ-बाप, पति, सगे-संबंधी सबको छोडकर वह भगवान् की शरण में आ गई। वह कहती है कि जग में मेरा हरि के सिवा और कोई अपना नहीं है। गुरु की कृपा और संतों के सत्संग से मैंने लोक-लाज त्याग दी है। अब में सांसारिक मायाजाल से मुक्ति पा गई हूँ।

मन नाहीं मानी हार
मैं तो तेरी सरण पडी रे रामां, ज्यूं जाणे ज्यूं तार।
अडसठ तीरथ भ्रमि भ्रमि आयो, मन नाहीं मानी हार।।
या जग में कोई नहीं अपणां, सुनियौ स्त्रवन मुरार।
मीरा दासी राम भरोसे, जम का फंद निवार।।

भावार्थ

गिरधारी! लाखों यज्ञ और सभी तीर्थ करने के बाद भी मेरा मन मेरे वश में नहीं है। अब मैं तुम्हारी शरण में आई हूँ। मुझे इस भवसागर से पार करो। इस जगत् के सभी बंधन झूठे हैं। यहां कोई भी अपना नहीं है। मुझे तो सिर्फ तुम्हारा ही आसरा है।

दूखन लागे नैन
दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुडे मोरे प्रभु जी, कबहु न पायो चौन।
शब्द सुनत मेरी छातियां कंपै, मीठे लगे बैन।
एक टकटकी पंथ निहारूं, भई छ-मासी रैन।
विरह विथा कासूं कहूं सजनी, बह गई करवत ऐन।
मीरा रे प्रभु कब रे मिलोगे, दुरूख मेटन सुख देन।।

भावार्थ

हरि दर्शन की प्यासी मीरा अपनी विरह वेदना प्रकट करते हुए कहती है कि आपके वियोग में मुझे एक पल भी चौन नहीं मिलता। एक-एक रात छः-छः माह के समान बीतती है। आपके वियोग में मैं इस तरह तडप रही हूँ जैसे मेरे हृदय पर तीक्ष्ण तलवार चल रही है। मीरा प्रभु से जल्दी मिलने की विनती करती है ताकि दुःख का निवारण हो और सच्चे सुख की प्राप्ति हो।

बांह गहे की लाज
अब सो निभायां सरेगी, बांह गहे की लाज।।
समरथ सरण तुम्हारी साइयां, सरब सुधारण काज।।
भव सागर संसार अपरबल, जा में तुम हो जहाज।।
निरधारां अधार जगत् गुरु, तुम बिन होय अकाज।।
जुग-जुग भीर हरी भक्तन की दीनो मोक्ष समाज।।
मीरा सरण गही चरणन की, लाज रखो महाराज।।

भावार्थ

हरि का नाम जपते हुए सत्य की नौका ही संसार रूपी सागर से पार करती है। मीरा कहती है, मैं भी ईश्वर के चरणों में हूँ जिसके स्मरण मात्र से ही सब कार्य पूरे हो जाते हैं। भक्तों के दुरूख दूर करने वाले सांवरिए मीरा की भी लाज रखना।

बेडो लगाज्यो पार
मेरो बेडो लगाज्यो पार प्रभु जी मैं अरज करूं छै।
या भव में मैं बहुत दुरूख पायो, संसा सोग निवार।
अष्ट करम की तलब लगी है, दूर करो दुरूख भार।
यो संसार सब बह्यो जात है, लख चौरासी री धार।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, आवागमन निवार।।

भावार्थ

जगत् के मिथ्यास्वरूप से भालीभाँति परिचित मीरा आवागमन के चक्र से मुक्त होना चाहती है। वह कहती है कि हे प्रभु जी! मैं विनती करती हूं कि मेरा उद्धार कर दो। मेरे बेडे को उस पार लगा दो। इस संसार से मुझे विरक्ति हो गई है। यहाँ मैं बहुत दुरूख पा रही हूं। चित्त सदैव शंकाओं व शोकों से घिरा रहता है। इन सबका तुम ही निवारण कर सकते हो। संसार में रही तो बस अष्ट कर्मो की तलब लगी रहेगी और मोह-माया से कभी छुटकारा नहीं मिल सकेगा। मेरे इस दु:ख के भार को तुम दूर कर सकते हो। यह सारा संसार चौरासी लाख योनियों की धाराओं में बहता चला जा रहा है अर्थात् बार-बार विभिन्न योनियों में जन्म लेकर आवागमन के चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! मेरा उद्धार करो, ताकि मेरे आवागमन का सिलसिला ही समाप्त हो जाए।

भजणा बिना नर फीका
आली म्हाणो लागां बृन्दावण नीकां।
घर-घर तुलती ठाकर पूजां, दरसण गोविन्द जी कां।
निरमल नीर बह्या जमणां मां, भोजण दूध दहीं कां।
रतण सिंघासण आप बिराज्यां, मुगट धर्या तुलसी कां।
कुंजन-कुंजन फिर्या सांवरा, सबद सुण्या मुरली कां।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, भजण बिना नर फीकां।।

भावार्थ

कृष्ण से अंतरंग प्रेम के कारण मीराबाई का मन वृंदावन में रमा रहता था। वह कहती है कि मेरी सखी, मुझे वृंदावन की शोभा बडी प्यारी लगती है। वहां घर-घर में तुलसी से ठाकुरजी की पूजा होती है और कण-कण में गोविंदजी के दर्शन होते हैं। यमुना में निर्मल जल बहता है और सब दूध-दही का भोजन करते हैं। स्वयं मेरा श्याम रत्न सिंहासन पर विराजता है और उसके

सिर पर तुलसी मुकुट है। वहां मेरा सांवरिया कुंज-कुंज में विचरता है और मुरली का स्वर सुनाई देता है। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! सच तो यह है कि भजन के बिना नर का जीवन निरर्थक है।

मैं सरण हूं तेरी
हरि बिन कूण गति मेरी।
तुम मेरे प्रतिपाल कहियै, मैं रावरी चेरी।
आदि अंत नित नांव तेरो, हीया में फेरी।
बेरि बेरि पुकारि कहूं, प्रभु आरति है तेरी।
यौ संसार विकार सागर, बीच में घेरी।
नाव फाटी पाल बांधो, बूडत हे बेरी।
बिरहणि पिवकी बाट जोवै, राख्लियौ नेरी।
दासि मीरा राम रटत है, मैं सरण हूं तेरी।।

भावार्थ

भगवान् के बिना सृष्टि की कल्पना भी व्यर्थ है। मीरा कहती है कि रि के बिना मेरी अन्य कौन-सी गति है? तुम्हीं मेरे प्रतिपालक कहलाते हो और मैं तुम्हारी दासी। आदि से अंत तक तुम्हारा ही नाम हृदय में बार-बार लेती हूं। मैं तुमसे निरंतर पुकार-पुकार कर कहती हूँ कि हे प्रभु! तुम्हारे दर्शनों की तीव्र लालसा है। आकर मेरी सुध लो। यह संसार और कुछ नहीं है, केवल दुखों और कष्टों का सागर है और मैं इसके बीच घिरी हुई हूँ। मेरी नाव टूट-फूट गई है। हे प्रभु जल्दी से पाल बांधो, वरना इसके डूबने में देर नहीं है। मैं विरहिणी अपने पिया की बाट जोह रही हूं। कृपया करके मुझे अपने पास ही रख लो। यह मीरा दासी सदैव राम का नाम रटती है। स्वयं को तुम्हारे चरणों में सौंप दिया है, मेरी सुध लो, प्रभु।

थारी सरणां आस्यां री
पग बांध घुंघरयां णाच्यारी।
लोग कह्यां मीरा बाबरी, सासु कह्यां कुलनासी री।
विष रो प्यालो राणा भेज्यां, पीवां मीरा हांसां री।
तण मण वार्यां हरि चरणमां दरसण प्यास्यां री।
मीरा रे प्रभु गिरधरनागर, थारी सरणां आस्यां री।।

भावार्थ

मैं पैरों में घुंघरू बांधकर नाच रही हूँ। यह देखकर मीरा कहती है कि–लोग कहते हैं कि मीरा बावली हो गई है और सास कहती है कि मैं कुल कलंकिनी हूँ। राणा तो इतने क्षुब्ध हुए कि विष का प्याला ही भेज दिया और मीरा ने उसे हंसते–हंसते पी लिया। मैंने अपना तन–मन हरि पर वार दिया है, उसके दर्शन से मुझे अमृत की प्राप्ति होती है। हे मीरा के प्रभु गिरधरनागर! मैं तुम्हारे चरणों में आ पडी हूँ। लोगों के जी में जो आए कहते रहें।

कोई न करे प्रीत
रमईया मेरे तोही सूं लागी नेह।
लागी प्रीत जिन तोडै रे बाला, अधिकौ कीजै नेह।
जै हूं ऐसी जानती रे बाला, प्रीत कीयां दुष होय।
नगर ढंढोरो फेरती रे, प्रीत करो करो मत कोय।
षीर न षाजे आरी रे, मूरष न कीजै मिन्त।
षिण ताता षिण सीतला रे, षिण बैरी षिण मिन्त।
प्रीत करै ते बाबरा रे, करि तोडै ते क्रूर।
प्रीत निभावण दल के षभण, ते कोई बिरला सूर।
तम गजगीरी कौं चूंतरौरे, हम बालु की भीत।
अब तो म्यां कैसे बणै रे, पूरब जनम की प्रीत।
एकै थाणो रोपिया रे, इक आंबो इक बूल।
बाकौ रस नीकौ लगै रे, बाकी भागै सूल।
ज्यूं डूगर का बाहला रे, यूं ओछा तणा सनेह।
बहता बेता उतावला रे, वहैजी वे तो लटक बतावे छेह।
आयो सांवण भादवा रे, बोलण लागा मोर।
मीरा कूं हरिजन मिल्या रे, ले गया पवन झकोर।।

भावार्थ

रमैया, मेरी प्रीत तुम से ही लगी है। यह जो प्रीत लगी है, इसे तोडना मत बल्कि मुझसे अधिक नेह करना। यदि मैं पहले जानती कि प्रीत करने से दुरूख होता है तो मैं नगर–नगर में ढिंढोरा पिटवा देती कि कोई प्रीत करने की भूल न करे। खीर को आरी से नहीं खाया जाता। मूर्ख से मित्रता करने की भूल नहीं करनी चाहिए। मूर्ख क्षण में ही ठंडा पड जाता है और क्षण में ही गर्म। वह क्षण में दुश्मन बनता है और क्षण में ही मीत। प्रीत करने वाला पागल होता है। प्रेम

निभाता है, ऐसा सूरमा विरला ही होता है। तुम मजबूत चबूतर हो तो मैं बालू की कमजोर भीत (दीवार)। अब तो कुछ नहीं हो सकता। मेरे प्रीतम, यह पूर्वजन्म की प्रीत है। आम व बबूल का पेड आसपास रोपा जाए तो भी उनका स्वभाव नहीं बदलता। आम के फल मीठे होंगे और बबूल के पेड में कांटे ही उगेंगे। जिस प्रकार ऊंचाई से गिरने वाला जल शुरू में तो तीव्रता से बहता है, फिर मंद पड जाता है, उसी प्रकार तना हुआ स्नेह भी ओछा होता है। यह पहले तो उतावलापन दिखाता है, किंतु जल्दी उसका उत्साह खत्म हो जाता है। भादो-सावन का महीना आ गया है, और मोर बोलने लगे हैं। मीरा को तो हरि जन मिल गया, जो मुझे पवन के झोंके की भांति उडाकर ले गया।

4

रसखान के साहित्य में बिंब योजना

सैय्यद इब्राहीम 'रसखान' का हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्त तथा रीतिकालीन कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। रसखान को 'रस की खान(कान)' कहा जाता है। इनके काव्य में भक्ति, श्रृंगार रस दोनों प्रधानता से मिलते हैं। रसखान कृष्ण भक्त हैं और प्रभु के सगुण और निर्गुण निराकार रूप के प्रति श्रद्धालु हैं। रसखान के सगुण कृष्ण लीलाएँ करते हैं। यथा–बाललीला, रासलीला, फागलीला, कुंजलीला आदि। उन्होंने अपने काव्य की सीमित परिधि में इन असीमित लीलाओं का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिन मुस्लिम हरिभक्तों के लिये कहा था, 'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिए' उनमें 'रसखान' का नाम सर्वोपरि है।

जीवन परिचय

रसखान के जन्म के संबंध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। अनेक विद्वानों ने इनका जन्म संवत् 1615 ई. माना है और कुछ विद्वानों ने 1630 ई. माना है। रसखान स्वयं बताते हैं कि गदर के कारण दिल्ली श्मशान बन चुकी थी, तब उसे छोड़कर वे ब्रज चले गये। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर पता चलता है कि उपर्युक्त गदर सन् 1613 ई. में हुआ था। उनकी बात से ऐसा

प्रतीक होता है कि वह गदर के समय वयस्क थे और उनका जन्म गदर के पहले ही हुआ होगा। रसखान का जन्म संवत् 1590 ई. मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। भवानी शंकर याज्ञिक ने भी यही माना है। अनेक तथ्यों के आधार पर उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि भी की है। ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर भी यही तथ्य सामने आता है। यह मानना अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है कि रसखान का जन्म 1590 ई. में हुआ होगा।

जन्म स्थान

रसखान के जन्म स्थान के विषय में अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किए हैं। कई तो रसखान के जन्म स्थान पिहानी अथवा दिल्ली को बताते हैं, किंतु यह कहा जाता है कि दिपाली शब्द का प्रयोग उनके काव्य में केवल एक बार ही मिलता है। जैसा कि पहले लिखा गया कि रसखान ने गदर के कारण दिल्ली को श्मशान बताया है। उसके बाद की जिंदगी उसकी मथुरा में गुजरी। शिवसिंह सरोज तथा हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहास तथा ऐतिहासिक तथ्यों एवं अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर रसखान की जन्म-भूमि पिहानी जिला हरदोई माना जाए। हरदोई जनपद मुख्यालय पर निर्मित एक प्रेक्षाग्रह का नाम 'रसखान प्रेक्षाग्रह' रखा गया है। पिहानी और बिलग्राम ऐसी जगह हैं, जहाँ हिंदी के बड़े-बड़े एवं उत्तम कोटि के मुसलमान कवि पैदा हुए।

नाम एवं उपनाम

जन्म स्थान तथा जन्म काल की तरह रसखान के नाम एवं उपनाम के संबंध में भी अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक में रसखान के दो नाम लिखे हैं–सैय्यद इब्राहिम और सुजान रसखान। जबकि सुजान रसखान की एक रचना का नाम है। हालाँकि रसखान का असली नाम सैयद इब्राहिम था और 'खान' उसकी उपाधि थी। नवलगढ़ के राजकुमार संग्रामसिंह जी द्वारा प्राप्त रसखान के चित्र पर नागरी लिपि के साथ–साथ फारसी लिपि में भी एक स्थान पर 'रसखान' तथा दूसरे स्थान पर 'रसखाँ' ही लिखा पाया गया है। उपर्युक्त सबूतों के आधार पर कहा जा सकता है कि रसखान ने अपना नाम 'रसखान' सिर्फ इसलिए रखा था कि वह कविता में इसका प्रयोग कर सके। फारसी कवियों की नाम चसिप्त में रखने की परंपरा का पालन करते हुए रसखान ने भी अपने नाम खाने के पहले 'रस' लगाकर

स्वयं को रस से भरे खान या रसीले खान की धारणा के साथ काव्य–रचना की। उनके जीवन में रस की कमी न थी। पहले लौकिक रस का आस्वादन करते रहे, फिर अलौकिक रस में लीन होकर काव्य रचना करने लगे। एक स्थान पर उनके काव्य में 'रसखाँ' शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

नैन दलालनि चौहटें म मानिक पिय हाथ।
'रसखाँ' ढोल बजाई के बेचियों हिय जिय साथ।।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका नाम सैय्यद इब्राहिम तथा उपनाम 'रसखान' था।

बाल्यकाल तथा शिक्षा

रसखान एक जागीरदार पिता के पुत्र थे। इसलिए इनका लालन पालन बड़े लाड़-प्यार से हुआ माना जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है कि उनके काव्य में किसी विशेष प्रकार की कटुता का सरासर अभाव पाया जाता है। एक संपन्न परिवार में पैदा होने के कारण उनकी शिक्षा अच्छी और उच्च कोटि की गई थी। उनकी यह विद्वत्ता उनके काव्य की साधिकार अभिव्यक्ति में जग जाहिर होते हैं। रसखान को फारसी, हिंदी एवं संस्कृति का अच्छा ज्ञान था। फारसी में उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद करके यह साबित कर दिया था। इसको देख कर इस बात का अभास होता है कि वह फारसी और हिंदी भाषाओं का अच्छा वक्ता होंगे। रसखान ने अपना बाल्य जीवन अपार सुख–सुविधाओं में गुजारा होगा। उन्हें पढ़ने के लिए किसी मकतब में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी।

मथुरा आगमन

यह तो निश्चित ही है कि रसखान दिल्ली में राजसत्ता के लिए हुए युद्ध को देखकर श्रीवन आये। यह गदर कब पड़ा, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। चन्द्रशेखर पांडे लिखते हैं कि उन्होंने एक दोहे में लिखा है–देखि गदर हित साहिबी, 'दिल्ली नगर मसान', किन्तु इनके समय दिल्ली में ऐसा कोई राजविप्लव नहीं हुआ था जिसमें दिल्ली नगर श्मशान हो गया हो। संभव है षड्यंत्रकारी दिल्ली में ही मारे गए हों और रसखान के किसी परिचित पर भी आंच पहुंची हो, अतः रसखान ने इसे गदर लिख दिया हो और दिल्ली को श्मशान बताया हो।

विश्वनाथ प्रसाद जी, परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इस घटना के लिए युद्ध तथा विद्रोह दमन की संज्ञा देना अधिक उचित है। वास्तव में इसे गदर कहना ठीक नहीं। गदर शब्द अरबी का है। अरबी में इसका अर्थ बेवफाई है, और उर्दू में बगावत, हंगामा और बलवा आदि। यह घटना इस अर्थ पर पूरी नहीं उतरती। यह युद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है कि इसे गदर मान लिया जाए। दिल्ली में तो कदाचित एक भी गोली नहीं चली। किसी भी इतिहासकार ने इस घटना को गदर की संज्ञा नहीं दी, फिर रसखान इसे दिल्ली का गदर क्यों कहते।

आचार्य चंद्रबली पांडेय के अनुसार रसखान के मसान शब्द का संबंध तत्सामयिक किसी गदर से नहीं है वरन् स्वयं दिल्ली नगर से है। यह आवश्यक नहीं कि गद्दार लोग दिल्ली नगर में ही गदर मचाकर उसे मसानवत बना दें, तभी रसखान उसे मसान कहें। सच तो यह है कि दिल्ली नगर जैसा राजवंशों का मसान कोई दूसरा नगर नहीं। कौरवों से लेकर पठानों तक न जाने कितने राजवंश दिल्ली नगर में नष्ट हो चुके थे। अतः रसखान का दिल्ली नगर को मसान कहना ठीक ही था। आचार्य चंद्रबली पांडे ने बिना किसी आधार के केवल कल्पना के बल पर ही दिल्ली को मसान बना दिया। दिल्ली की भव्यता को देखकर उसके मसान होने की कल्पना करना कल्पना ही प्रतीत होती है।

इस घटना को गदर मानने में एक आपत्ति यह भी है कि यदि रसखान ने संवत 1638 की घटना को देखकर दिल्ली छोड़ी तो इससे पूर्व संवत 1634 से 1636 तक 'रामचरितमानस' की कथा कैसे सुनी। इस घटना को गदर मानने वाले सभी विद्वानों ने रसखान का जन्म समय संवत 1615 माना है, जिसके अनुसार रसखान की अवस्था उस समय 18 वर्ष की होती है। 18 वर्ष के लड़के से यह आशा करना कि वह किसी घटना से प्रभावित होकर इस प्रकार की रचना करेगा, केवल कोरी कल्पना ही कही जा सकती है।

देवेंद्रप्रताप उपाध्याय ने और अधिक पांडित्य का प्रमाण इस घटना को जहाँगीर से मिला कर दिया है। उनके अनुसार 1671 संवत्, जो प्रेमवाटिका का रचना काल हैं, वह निश्चय ही जहाँगीर का शासन काल था। इस समय कवि को यदि किसी बादशाह की ठसक हो सकती है तो बादशाही मुगल वंश की ही। वह गदर या साहिबी की लड़ाई भी बादशाही घराने तक ही सीमित थी। चाहे वह अकबर या उनके पुत्र जहाँगीर की लड़ाई हो या जहाँगीर या खुसरों की। इसमें पहली लड़ाई संवत 1658 में हुई, दूसरी संवत 1662-64 में। गदर

उसी घटना को कहा जाएगा, जिसका प्रभाव संपूर्ण देश पर पड़े, साथ ही राजधानी में भी उपद्रव मचे, जनता भी उसके कुप्रभाव से न बच सके। रसखान ने जिस गदर का वर्णन किया है वह संवत् 1612 और 1613 का है।

23 जनवरी सन् 1556 ई. में अपने पुस्तकालय की सीढ़ी से गिरने के कारण हुमायूँ की अचानक मृत्यु हो गई और अकबर 14 फरवरी सन् 1556 ई. (संवत 1613 विक्रमी) को गद्दी पर बैठा। उसने पठानों को खदेड़-खदेड़कर अशक्त कर दिया। कुछ ही वर्षों में सबका दमन कर सूरवंश का नाम मिटा दिया। सिकंदरशाह सूर अकबर से संधि करके शेष जीवन बंगाल में बिताने लगा और वहीं तीन वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई।

महमूदशाह आदिल को, जो चुनारगढ़ में था, बंगाल के महमूद खघँ के पुत्र खिजिर ने अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए सूरजगढ़ में परास्त कर मरवा डाला। इब्राहीम खाँ हेमू से बार-बार पराजित होकर बुन्देलखंड और फिर उड़ीसा भाग गया और कुछ वर्षों में मर गया। हुमायूँ की मृत्यु का समाचार मिलते ही हेमू पानीपत के मैदान में सेना से लड़ने गया और 5 नवम्बर 1556 ई. को बैरम खघँ द्वारा मारा गया। इस इतिहास प्रसिद्ध युद्ध को रसखान ने गदर का नाम दिया। ठीक उसी समय संवत 1612 में दिल्ली में भीषण अकाल पड़ा, जिसके कारण जनता की बड़ी दुर्दशा हुई। देश में अराजकता फैल गई। युद्ध और दुर्भिक्ष ने जनता में हाहाकार मचा दिया। मनुष्य बड़ी संख्या में मरने लगे।

प्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुल कादिर बदायूंनी ने अपनी पुस्तक मुनतखिबुत्तबारीख में दुर्भिक्ष और युद्ध पीड़ित जनता का वड़ा हृदय-विदारक वर्णन किया है—इस समय (संवत 1613 विक्रमी) में एक भयंकर अकाल पड़ा, जो आगरा, बयाना और दिल्ली में विशेष रूप से प्रचण्ड था। एक सेर ज्वारी (श्रूंत) का मूल्य ढाई टके (सिक्का विशेष) तक हो गया था। इस ऊंचे भाव पर भी वह अप्राप्त था। बहुतों ने विवश होकर मरने के लिए उद्यत हो अपने घरों के द्वार बंद कर लिये जिसमें दस-बीस या उनसे भी अधिक प्राणी मरने लगे। अनेक लोगों को न कफन मिला न कब्र। हिन्दू जनता भी इसी प्रकार मरी। मनुष्य कांटेदार बबूल आदि वृक्षों के बीज, जंगली घास और पशुओं की खाल पर, जो धनी वर्ग द्वारा बेची जाती थी, निर्वाह करते थे। कुछ दिनों में उनके हाथ-पैरों में सूजन आने पर मृत्यु हो जाती थी। मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि मनुष्य नर-माँस-भक्षी हो गए थे। दुर्भिक्ष पीड़ित जनता की मुखाकृति इतनी भयंकर हो गई थी कि उनकी ओर देखना कठिन था। वर्षा की

कमी, दुर्भिक्ष और अन्न का अभाव तथा दो वर्ष के लगातार युद्ध के कारण समस्त देश मरूस्थल हो गया। कृषि के लिए कृषक नहीं बचे थे। लुटेरों ने भी नगरों को खूब लूटा।

इस दुर्भिक्ष की चर्चा बशीरूद्दीन अहमद ने भी की है। उनके अनुसार अफगानों में, जो बाहमी (आपसी) कशाकश (वैमनस्य) और बेइंतजामी रही इसमें हेमू एक जंगी और बाइकबाल (तेजस्वी) राजा बन गया। प्रलय आ रही थी। ढाई रुपया सेर मकई का भाव था औ वह भी हाथ न आती थी। हेमू की योग्यता और सूझ-बूझ ने इस दशा में भी सेना के भोजन का प्रबंध रखा। किन्तु जब ईश्वर अपना कोप दिखाता है तो चारों ओर से मानव को घेर लेता है। अदली अफगान तो आगरा से लश्कर लेकर निकल गया। इधर-उधर वह अपने शत्रुओं को दबाता फिरता था। किले में एक अफगान सरदार भोजन और युद्ध-प्रबंध के लिए आया। वह एक दिन सवेरे दीपक लिए हुए हुजरों (कोठरियों) को देख रहा था कि कहीं चिराग का गुल झड़ पड़ा। कोठे बारूद के थे, या पहले उनमें बारूद रह चुकी थी, पल भर में आधा किला उड़ गया। पत्थर की सिलें, महराबें उड़-उड़कर दरिया पार कहीं की कहीं जा पड़ीं। हजारों आदमी और जानवर उड़ गए।

पानीपत के युद्ध में हेमू को हराकर अकबर ने आगरा को राजधानी बनाया और इस कारण दिल्ली बिल्कुल वीरान हो गई। रसखान से अकाल और युद्धों से पीड़ित दिल्ली को देखा न गया। इस दुर्दशा को उन्होंने 'गदर' की संज्ञा दे दी। इसके बाद ही रसखान दिल्ली छोड़कर मथुरा आए।

मृत्यु

इस महान् साहित्यकार की मृत्यु संवत 1671 के बाद हुई। इनका मृत्यु-स्थान मथुरा-वृन्दावन को मानना पड़ेगा। उन्होंने स्वयं भी कहा है-

प्रेम निकेतन श्रीबनहिं आई गोबर्धन धाम। लहयौ सरन चित चाहि कै, जुगल-सरूप ललाम।।

इस दोहे के अनुसार रसखान गोवर्धन धाम के निकट रहने लगे। वहां उनकी मृत्यु हो गई। उनके मरने के बाद महावन में उनकी समाधि बनाई गई जो रसखान की छत्री के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। रसखान का जन्म संवत् 1590 में पिहानी में हुआ। बाल्यावस्था में इन्होंने वहां से दिल्ली प्रस्थान किया। वहां संवत 1613-1614 में हुए भीषण अकाल और गदर को देखकर ये ब्रज

चले गए। संवत 1634 से 1637 तक रामचरितमानस का पाठ सुना। संभवत: वहीं से उन्हें काव्य की प्रेरणा मिली। उन्होंने कृष्ण को आधार बना ब्रज में निवास कर काव्यमंदाकिनी को प्रवाहित किया। वहीं की धरती ने उन्हें अपनी आगोश में ले लिया। संवत 1671 के बाद उनकी मृत्यु हो गई।

साहित्यिक विशेषताएँ

सैय्यद इब्राहिम रसखान के काव्य के आधार भगवान श्रीकृष्ण हैं। रसखान ने उनकी ही लीलाओं का गान किया है। उनके पूरे काव्य–रचना में भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति की गई है। इससे भी आगे बढ़ते हुए रसखान ने सुफिज्म (तसव्वुफ) को भी भगवान श्रीकृष्ण के माध्यम से ही प्रकट किया है। इससे यह कहा जा सकता है कि वे सामाजिक एवं आपसी सौहार्द के कितने हिमायती थे।

होली वर्णन

कृष्ण भक्त कवियों की तरह रसखान ने भी कृष्ण जी की उल्लासमयी लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने अपने पदों में कृष्ण को गोपियों के साथ होली खेलते हुए दिखाया गया है, जिनमें कृष्ण गोपियों को किंभगो देते हैं। गोपियाँ फाल्गुन के साथ कृष्ण के अवगुणों की चर्चा करते हुए कहती हैं कि कृष्ण ने होली खेल कर हम में काम–वासना जागृत कर दी हैं। पिचकारी तथा घमार से हमें किंभगो दिया है। इस तरह हमारा हार भी टूट गया है। रसखान अपने पद में कृष्ण को मर्यादा हीन चित्रित किया है–

आवत लाल गुलाल लिए मग सुने मिली इक नार नवीनी।
त्यों रसखानि जगाइ हिये यटू मोज कियो मन माहि अधीनी।
सारी फटी सुकुमारी हटी, अंगिया दरकी सरकी रंग भीनी।
लाल गुलाल लगाइ के अंक रिझाइ बिदा करि दीनी।

कला पक्ष

कवि ने कहीं चमत्कार लाने के लिए अलंकारों को बरबस ठूंसने की चेष्टा नहीं की है। भाव और रस के प्रवाह पर भी उसकी दृष्टि केन्द्रित रही है। भावों और रसों की अभिव्यक्ति को उत्कृष्ट बनाने के लिए ही अलंकारों की योजना की गई है। उचित स्थान पर अलंकारों का ग्रहण किया गया है। उन्हें

दूर तक खींचने का व्यर्थ प्रयास नहीं किया गया है। औचित्य के अनुसार ठीक स्थान पर उनका त्याग कर दिया गया है। रसखान द्वारा प्रयुक्त अलंकार अपने 'अलंकार' नाम को सार्थक करते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास और अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक की निबंधना में कवि ने विशेष रुचि दिखाई है। बड़ी कुशलता के साथ उनका सन्निवेश किया है, उन्हें इस विधान में पूर्ण सफलता मिली है। अलंकारों की सुन्दर योजना से उनकी कविता का कला-पक्ष नि:सन्देह निखर आया है।

भाव पक्ष

रसखान के काव्य में छः स्थायी भावों की निबंधना मिलती है–रति, निर्वेद, उत्साह, हास, वात्सल्य और भक्ति। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने परंपराप्रथिता चार स्थायी भावों को ही गौरव दिया है, जिनमें अन्यतम भाव रति का है। क्रोध, जुगुप्ता, विस्मय, शोक और भय की उपेक्षा का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि इन भावों का रति से मेल नहीं है। रसखान प्रेमी जीव थे, अतएव उन्होंने अपनी कविता में तीन प्रकार के रति भावों की रति, वात्सल्य और भक्ति की व्यंजना कीय जो भाव इनमें विशेष सहायक हो सकते थे। उन्हें यथास्थान अभिव्यक्ति किया। दूसरा कारण यह भी है कि उनकी रचना मुक्तक है, अतएव प्रबंध काव्य की भांति उसमें सभी प्रकार के भावों का सन्निवेश आवश्यक भी नहीं है।

रस संयोजन

रसखान ने भक्तिरस के अनेक पद लिखे हैं, तथापि उनके काव्यों में भक्तिरस की प्रधानता नहीं है। वे प्रमुख रूप से श्रृंगार के कवि हैं। उनका श्रृंगार कृष्ण की लीलाओं पर आश्रित है। अतएव सामान्य पाठक को यह भ्रांति हो सकती है कि उनके अधिकांश पद भक्ति रस की अभिव्यक्ति करते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से जिन पदों के द्वारा पाठक के मन में स्थित ईश्वर विषयक-रतिभाव रसता नहीं प्राप्त करता, उन पदों को भक्ति रस व्यंजक मानना तर्क संगत नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि रसखान भक्त थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में भजनीय कृष्ण का सरस रूप से निरूपण किया है।

भक्ति भावना

हिन्दी-साहित्य का भक्ति-युग (संवत् 1375 से 1700 वि0 तक) हिन्दी का स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग में हिन्दी के अनेक महाकवियों–विद्यापति, कबीरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास, नंददास, तुलसीदास, केशवदास, रसखान आदि ने अपनी अनूठी काव्य-रचनाओं से साहित्य के भण्डार को सम्पन्न किया। इस युग में सत्रहवीं शताब्दी का स्थान भक्ति-काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास, रसखान आदि की रचनाओं ने इस शताब्दी के गौरव को बढ़ा दिया है। भक्ति का जो आंदोलन दक्षिण से चला वह हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल तक सारे भारत में व्याप्त हो चुका था। उसकी विभिन्न धाराएँ उत्तर भारत में फैल चुकी थीं। दर्शन, धर्म तथा साहित्य के सभी क्षेत्रों में उसका गहरा प्रभाव था। एक ओर सांप्रदायिक भक्ति का जोर था, अनेक तीर्थस्थान, मंदिर, मठ और अखाड़े उसके केन्द्र थे। दूसरी ओर ऐसे भी भक्त थे, जो किसी भी तरह की सांप्रदायिक हलचल से दूर रह कर भक्ति में लीन रहना पसंद करते थे। रसखान इसी प्रकार के भक्त थे। वे स्वच्छंद भक्ति के प्रेमी थे।

भाषा

सोलहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा साहित्यिक आसन पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। भक्त-कवि सूरदास इसे सार्वदेशिक काव्य भाषा बना चुके थे। किन्तु उनकी शक्ति भाषा सौष्ठव की अपेक्षा भाव द्योतन में अधिक रमी। इसीलिए बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ब्रजभाषा का व्याकरण बनाते समय रसखान, बिहारी लाल और घनानन्द के काव्याध्ययन को सूरदास से अधिक महत्त्व देते हैं। बिहारी की व्यवस्था कुछ कड़ी तथा भाषा परिमार्जित एवं साहित्यिक है। घनानन्द में भाषा-सौन्दर्य उनकी 'लक्षणा' के कारण माना जाता है। रसखान की भाषा की विशेषता उसकी स्वाभाविकता है। उन्होंने ब्रजभाषा के साथ खिलवाड़ न कर उसके मधुर, सहज एवं स्वाभाविक रूप को अपनाया। साथ ही बोलचाल के शब्दों को साहित्यिक शब्दावली के विकट लाने का सफल प्रयास किया।

दर्शन

अब प्रश्न यह उठता है कि जब वे भक्त थे और उनकी रचना भक्ति प्रधान है तो उसका कोई दर्शन भी अवश्य होगा। जहाँ आलोचक की जानकारी

के लिए नियमों की शृंखला में कोई वस्तु नहीं बंधती, वहां उसे स्वच्छंद कह दिया जाता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं। प्रत्येक कार्य का मूल कारण अवश्य रहता है। मिश्र जी ने एक बात बार-बार कही है कि रसखान में विदेशीपन की झलक अवश्य दिखाई पड़ती है। यह प्रेममार्गी भक्त थे। लौकिक पक्ष में इनका विरह फारसी काव्य की वंदना से प्रभावित है, अलौकिक पक्ष में सूफियों की प्रेमपीर से। आगे कहते हैं स्वच्छंद कवियों ने प्रेम की पीर सूफी कवियों से ही ली है इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रकृति वर्णन

मानस और उसको धारण करने वाले शरीर को तथा मनुष्य के निर्माण भाग को छोडकर अन्य समस्त चेतन और अचेतन सृष्टि-प्रसार को प्रकृति स्वीकार किया जाता है। व्यावहारिक रूप से तो जितनी मानवेतर सृष्टि है उसको हम प्रकृति कहते हैं, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से हमारा शरीर और मन उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सूक्ष्म तत्त्व प्रकृति के अंतर्भूत हैं। काव्य में प्रकृति चित्रण हर काल में मिलता है। संस्कृत काव्य से लेकर आधुनिक काव्य तक में प्रकृति के दर्शन होते हैं। यह स्वाभाविक भी है। मानव अध्ययन भले ही काव्य का मुख्य विषय माना गया हो किन्तु प्रकृति के साहचर्य बिना मानव की चेष्टाएं और मनोदशाएँ भावहीन-सी होने लगती हैं। यमुना तट, वंशीवट, कदंब के वृक्ष और ब्रज के वन बाग-तड़ाग-बिना नट नागर कृष्ण की समस्त लीलाएँ शून्य एवं नीरस-सी प्रतीत होती हैं। अतः प्रकृति के अभाव में किसी सुंदर काव्य की कल्पना कुछ अधूरी-सी ही प्रतीत होती है। काव्य में प्रकृति चित्रण भिन्न-भिन्न रूपों में मिलता है। रसखान के काव्य में प्रकृति की छटा तीन रूपों में दृष्टिगोचर होती है।

कृष्ण की विहार-भूमि वृन्दावन, करील कुंज, कालिंदी नदी कूल आदि का विशद वर्णन प्रकृति सहचरी के रूप में मिलता है।

संयोग और वियोग दोनों पक्षों में प्रकृति मानव भावनाओं की पोषिका रही है। कृष्ण-गोपिका मिलन और विरह वर्णन में रसखान ने प्रकृति उद्दीपन विभावों के अंतर्गत दिखाया है।

साथ ही अपने आराध्य के कोमल सौंदर्यमय पक्ष के निरूपण के लिए अलंकार रूप में प्रकृति को अपनाया है।

काव्य साधना

रसखान की भाषा पर्याप्त परिमार्जित और सरस तथा काव्योचित थी। ब्रजभाषा में जितनी उत्तमता से अपने हृदय के भाव वे व्यक्त कर सके, उतना और कवियों के लिये कष्ट साध्य था। उनकी परमोत्कृष्ट विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने लौकिक प्रेम को भगवद् प्रेम में रूपान्तरित कर दिया। असार संसार का परित्याग करके सर्वथा नन्दकुमार के दरबार के सदस्य हो गये।

एक समय कहीं भागवत कथा में उपस्थित थे। व्यासगद्दी के पास श्यामसुन्दर का चित्र रखा हुआ था। उनके नयनों में भगवान का रूपमाधुर्य समा गया। उन्होंने प्रेममयी मीठी भाषा में व्यास से भगवान श्रीकृष्ण का पता पूछा और ब्रज के लिये चल पड़े। रासरसिक नन्दनन्दन से मिलने के लिये विरही कवि का हृदय-बीन बज उठा। वे अपनी प्रेमिका की बात सोचते जाते थे। अभी थोड़े ही समय पहले उसने कहा था कि–'जिस तरह मुझे चाहते हो, उसी तरह यदि श्रीकृष्ण को चाहते तो भवसागर से पार उतर जाते'। पैर और वेग से आगे बढ़ने लगे, उसी तरह नहीं। उससे भी अधिक चाहने के लिये वे श्रीकृष्ण की लीला भूमि में जा रहे थे। अभी उन्होंने कल ही भागवत के फारसी अनुवाद में गोपी प्रेम के सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रेममयी स्फूर्ति पायी थी। उन्होंने अपने मन को बार-बार धिक्कारा। मूर्ख ने लोक-बन्धन में मुक्ति-सुख मान लिया था। उनके कण्ठ में भक्ति की मधुर रागिनी ने अमृत घोल दिया। ब्रजरज का मस्तक से स्पर्श होते ही, भगवती कालिन्दी के जल की शीतलता के स्पर्श-सुख से उन्मत्त समीर के मदिर कम्पन की अनुभूति होते ही, श्यामतमाल से अरुझी लताओं की हरियाली का नयनों में आलोडन होते ही वे अपनी सुधि-बुधि खो बैठे। संसार छूट गया, भगवान में मन रम गया। उन्होंने वृन्दावन के ऐश्वर्य की स्तुति की, भक्ति का भाष्य किया। उन्होंने वृन्दावन के जड़, जीव, चेतन और जंगम में आत्मानुभूति की आत्मीयता देखी। पहाड़, नदी और विहंगों से अपने जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध जोड़ा। वे कह उठे-

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहू पुर कौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि कौ सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।।
श्रसखान' सदा इन नयनन्हिं सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।।

कितना अद्भुत आत्मसमर्पण था, भावमाधुर्य था। प्रेमसुधा का निरन्तर पान करते वे ब्रज की शोभा देख रहे थे। उनके पैरों में विरक्ति की बेड़ी थी,

हाथों में अनुरक्ति की हथकड़ी थी, हृदय में भक्ति की बन्धन-मुक्ति थी। रसखान के दर्शन से ब्रज धन्य हो उठा। ब्रज के दर्शन से रसखान का जीवन सफल हो गया। वे गोवर्धन पर श्रीनाथ जी के दर्शन के लिये मन्दिर में जाने लगे, द्वारपाल ने धक्का देकर निकाल दिया। श्रीनाथ जी के नयन रक्त हो उठे। इधर रसखान की स्थिति विचित्र थी। उन्हें अपने प्राणेश्वर श्यामसुन्दर का भरोसा था। अन्न-जल छोड़ दिया, न जाने किन पापों के फलस्वरूप पौरिया ने मन्दिर से निकाल दिया था। तीन दिन बीत गये, भक्त के प्राण कलप हो रहे थे। उधर भगवान भी भक्त की भावना के अनुसार विकल थे। रसखान पड़े-पड़े सोच रहे थे-

देस बिदेस के देखे नरेसन, रीझि की कोउ न बूझ करैगौ।
तातें तिन्हें तजि जान गिरयौ गुन सौं गुन औगुन गांठि परैगौ।।
बांसुरीवारौ बड़ौ रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगौ।
लाड़िलौ छैल वही तो अहीर कौ हमारे हिये की हरैगौ।।

अहीर के छैल ने उनके हृदय की वेदना हर ही तो ली। भगवान ने साक्षात दर्शन दिये, उसके बाद गोसाई श्रीविट्ठलनाथ जी ने उनको गोविन्दकुण्ड पर स्नान कराकर दीक्षित किया। रसखान पूरे 'रसखानि' हो गये। भगवान के प्रति पूर्णरूप से समर्पण का भाव उदय हुआ।। रसखान की काव्य-साधना पूरी हो गयी। उनके नयनों ने गवाही दी-

ब्रह्म मैं ढूंढ्यों पुराननि गाननि, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यों सुन्यों कबहुं न कितूं वह कैसे सरूप ओ कैसे सुभायन।।
टेरत टेरत हारि पर्यौ 'रसखान' बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यों, दुरयौ वह कुंज कुटीर में बैठ्यौ पलोटतु राधिका पायन।।

शेष, गणेश, महेश, दिनेश और सुरेश जिनका पार नहीं पा सके, वेद अनादि, अनन्त, अखण्ड, अभेद कहकर नेति-नेति के भ्रमसागर में डूब गये, उनके स्वरूप का इतना भव्य रसमय दर्शन जिस सुन्दर रीति से रसखान ने किया, वह इतिहास की एक अद्‌भुत घटना है। भक्ति-साहित्य का रहस्यमय वैचित्र्य है। वे आजीवन ब्रज में ही भगवान की लीला को काव्यरूप देते हुए विचरण करते रहे। भगवान ही उनके एकमात्र स्नेही, सखा और संबंधी थे।

रसखान का काव्य-रूप

काव्य के भेद के संबंध में विद्वानों के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने श्रव्य काव्य के पद्यमय स्वरूप को लिया है। उनके अनुसार पद्यात्मक काव्य वह है जिसके पद छंदोबद्ध हुआ करते हैं। यह पद्यात्मक काव्य भी कई प्रकार का हुआ करता है, जैसे-

मुक्तक–जिसके पद्य (अपने अर्थ में) अन्य किसी पद्य की आकांक्षा से मुक्त अथवा स्वतंत्र हुआ करते हैं,

युग्मक–जिसमें दो पद्यों की रचना पर्याप्त मानी जाया करती है तथा जिसकी रूपरेखा पद्य-चटुष्क में पूर्ण हो जाती है,

कुलक–जिसमें पाँच पद्यों का एक कुल दिखाई दिया करता है।

संक्षेप में काव्य के दो भेद हैं–प्रबंध और मुक्तक, मुक्तक भी दो प्रकार के हैं–गीत और अगीत।

प्रबंध काव्य

जिस रचना में कोई कथा क्रमबद्ध रूप से कही जाती है वह 'प्रबंध काव्य' कहलाता है। प्रबंध काव्य तीन प्रकार का होता है-

एक तो ऐसी रचना जिसमें पूर्ण जीवन वृत्त विस्तार के साथ वर्णित होता है। ऐसी रचना को 'महाकाव्य' कहते हैं।

जिस रचना में खंड जीवन महाकाव्य की ही शैली में वर्णित होता है, ऐसी रचना को 'खंड काव्य' कहते हैं।

हिन्दी में कुछ ऐसी रचनाएँ भी देखी जाती हैं, जिनमें जीवन वृत्त तो पूर्ण लिया जाता है, किंतु महाकाव्य की भांति कथा विस्तार नहीं दिखाई देता। ऐसी रचनाओं में जीवन का कोई एक पक्ष विस्तार के साथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जाता है। एकार्थ की ही अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएं महाकाव्य और खंडकाव्य के बीच की रचनाएँ होती हैं। इन्हें 'एकार्थ' या केवल 'काव्य' कहना चाहिए। रसखान ने इस प्रकार की कोई रचना नहीं की।

मुक्तक

मुक्तक काव्य तारतम्य के बंधन से मुक्त होने के कारण (मुक्तेन मुक्तकम्) मुक्तक कहलाता है और उसका प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण होता है। 'मुक्तक' वह स्वच्छंद रचना है जिसके रस का उद्रेक करने के लिए अनुबंध की आवश्यकता नहीं।' वास्तव में मुक्तक काव्य का महत्त्वपूर्ण रूप है, जिसमें काव्यकार प्रत्येक छंद में ऐसे स्वतंत्र भावों की सृष्टि करता है, जो अपने आप

में पूर्ण होते हैं। मुक्तक काव्य के प्रणेता को अपने भावों को व्यक्त करने के लिए अन्य सहायक छंदों की आवश्यकता अधिक नहीं होती। प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक रचना के लिए कथा की आवश्यकता अधिक होती है, क्योंकि काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक में न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है और न वह गेय है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का अथवा किसी एक दृश्य का या प्रकृति के किसी पक्ष विशेष का चित्र मात्र होता है। इसी से काव्यकार को प्रबंध काव्य की अपेक्षा सफल मुक्तकों की सृष्टि के लिए अधिक कौशल की आवश्यकता पड़ती है। पूर्वा पर प्रसंगों की परवाह किये बिना सूक्ष्म एवं मार्मिक खंड दृश्य अथवा अनुभूति को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने वाली उस रचना को मुक्तक काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है–जिसमें न तो कथा का व्यापक प्रवाह रहता है और न ही उसमें क्रमानुसार किसी कथा को सजाकर वर्णन करने का आग्रह होता है, बल्कि मुक्तक काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति होती है जो स्वयं में पूर्ण तथा अपेक्षाकृत लघु रचना होती है।

मुक्तक के प्रकार

विषय के आधार पर मुक्तक को तीन वर्गों में बांटा गया है–श्रृंगार परक, वीर रसात्मक तथा नीति परक। स्वरूप के आधार पर मुक्तक के गीत, प्रबंध मुक्तक, विषयप्रधान, संघात मुक्तक, एकार्थ प्रबंध तथा मुक्तक प्रबंध आदि भेद किये जा सकते हैं।'

रसखान द्वारा प्रयुक्त मुक्तक

रसखान का उद्देश्य किसी खंड काव्य या महाकाव्य की रचना न था। प्रेमोमंग के इस कवि को तो अपने मार्मिक उद्‌गारों की अभिव्यक्ति करनी थी। उसके लिए मुक्तक से अच्छा माध्यम और क्या हो सकता था। रसखान ने अपने कोमल मार्मिक भावों-रूपी पुष्पों से मुक्तक-रूपी गुलदस्ते को सजा दिया। रसखान ने श्रृंगार मुक्तक तथा स्वतंत्र मुक्तक के रूप में ही काव्य की रचना की।'

श्रृंगार मुक्तक

श्रृंगार परकमुक्तकों के अंतर्गत ऐहिकतापरक रचनाएँ आती हैं जिनमें अधिकतर नायक-नायिका की श्रृंगारी चेष्टाएँ, भाव भंगिमा तथा संकेत स्थलों

का सरल वर्णन होता है। मिलन काल की मधुर क्रीड़ा तथा वियोग के क्षणों में बैठे आँसू गिराना अथवा विरह की उष्णता से धरती और आसमान को जलाना आदि अत्युक्तिपूर्ण रचनाएँ श्रृंगार मुक्तक के अंतर्गत ही होती है। नायक-नायिकाओं की संयोग-वियोग अवस्थाओं तथा विभिन्न ऋतुओं का वर्णन श्रृंगारी मुक्तककारों ने किया है। रसखान के काव्य में श्रृंगार के दर्शन होते हैं। उन्होंने श्रृंगार-मुक्तक में सुन्दर पद्यों की रचना की है। मोहन के मन भाइ गयौ इक भाइ सौ ग्वालिन गोधन गायौ।

ताकों लग्यौ चट, चौहट सो दुरि औचक गात सौं गात छुवायौ।
रसखानि लही इनि चातुरता रही जब लौं घर आयौ।
नैन नचाइ चितै मुसकाइ सु ओट ह्वै जाइ अँगूठा दिखायौ।'
अखियाँ अखियाँ सौं सकाइ मिलाइ हिलाइ रिझाइ हियो हरिबो।
बतियाँ चित चौरन चेटक सी रस चारू चरित्रन ऊचरिबौ।
रसखानि के प्रान सुधा भरिबो अधरान पै त्यों अधरा अधिबौ।
इतने सब मैन के मोहनी जंत्र पै मन्त्र बसीकर सी करिबौ।।'
नवरंग अनंग भरी छबि सों वह मूरति आँखि गड़ी ही रहै।
बतियां मन की मन ही में रहै, घतिया उन बीच अड़ी ही रहै।
तबहूँ रसखानि सुजान अली नलिनी दल बूँद पड़ी ही रहै।
जिय की नहिं जानत हौं सजनी रजनी अँसुवान लड़ी ही रहै।'

स्वतन्त्र मुक्तक

कोष मुक्तक की भांति ही स्वतंत्र मुक्तक विशुद्ध मुक्तक काव्य का एक अंग अथवा भेद है। जिसके लिए न तो संख्या का बंधन है और न एक प्रकार के छंदों का ही, बल्कि कवि की लेखनी से तत्काल निकले प्रत्येक फुटकर छंद को स्वतंत्र मुक्तक की संज्ञा दी जा सकती है। स्वतंत्र मुक्तक काव्य के लिए प्रेम श्रृंगार, नीति तथा वीर रस आदि कोई भी विषय चुना जा सकता है। रसखान ने अधिकांश रचना स्वतंत्र मुक्तक के रूप में की। उन्होंने भक्ति एवं श्रृंगार संबंधी मुक्तक लिखे।

मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौ गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी।
भाव तो वोहि मेरो रसखानि सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरान धरौंगी।।'

रसखान द्वारा रचित कवित्त सवैये मुक्तक रचना की विभिन्न कसौटियों पर पूर्णरूप से खरे उतरते हैं। प्रत्येक छंद अपने में एक इकाई है। चार पंक्तियों में संपूर्ण चित्र का निर्माण बड़ी कुशलता से किया गया है। चित्रात्मकता, भावातिरेक और उक्ति वैदग्ध का यह सामंजस्य अत्यंत दुर्लभ है।

धूरि भरे अति सोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरै अंगना पग पैजनी बाजति पीरी कछोटी।
वा छबि को रसखानि बिलोकत वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथसों ले गयौ माखन रोटी।।'

रसखान की रचनाओं के अनुशीलन से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वे मुक्तक रचनाओं के कवि हैं। वस्तुतः कृष्ण-भक्त कवियों की यह एक अवेक्षणीय विशेषता रही है कि उन्होंने प्रबंध रचना में रूचि नहीं दिखाई। इसका मूल कारण यह था कि उनकी दृष्टि भगवान कृष्ण की सौंदर्य मूर्ति पर ही केन्द्रित थी, शक्ति और शील पर नहीं। रसखान स्वभाव से ही सौंदर्योपासक और प्रेमी जीव थे। अतः उनमें भी इस प्रवृत्ति का पाया जाना सर्वथा स्वाभाविक था। अपने प्रेम विह्वल चित्र के भावों की प्रवाहमयी और प्रेमोत्पादक व्यंजना के लिए मुक्तक का माध्यम ही अधिक उपयुक्त था। रसखान में अपनी स्वानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक के इस माध्यम का असाधारण सफलता के साथ प्रयोग किया है। मुक्तक के लिए प्रौढ़, प्रांजल तथा समासयुक्त भाषा आवश्यक है। मुक्तक के छोटे से कलेवर में भावों का सागर भरने के लिए इस प्रकार की भाषा को उत्तम कहा गया है। रसखान की भाषा मृदुल, मंजुल, और गति पूर्ण होते हुए भी बोझिल नहीं है। उसमें व्यक्त एक-एक चित्र अमर है। सानुप्रास शब्दों से भाषा की गतिपूर्ण लय में आंतरिक संगीत ध्वनित होता है। आवेग की तीव्रता के द्वारा कोमल प्रभाव की अभिव्यंजना होती है। साधारण मुक्तक काव्य की गीतात्मकता में हृदय को झंकृत कर देने की शक्ति है। रसखान के मुक्तकों की सबसे बड़ी विशेषता है, भाव एवं अभिव्यंजना की एकतानता, जो उन्हें गीति काव्य के निकट ला देती है।

छंदोयोजना

छंद वह बेखरी (मानवोच्चरित ध्वनि) है, जो प्रत्यक्षीकृत निरंतर तरंग भंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ को अभिव्यंजना कर सके। भाषा के जन्म के साथ-साथ ही कविता और छंदो का संबंध माना गया है। छंदों द्वारा

अनियंत्रित वाणी नियंत्रित तथा ताल युक्त हो जाती है। गद्य की अपेक्षा छंद अधिक काल तक सजाज में प्रचलित रहता है, जो भाव छंदोबद्ध होता है उसे अपेक्षाकृत अधिक अमरत्व मिलता है। भाव को प्रेषित करने के साथ-साथ छंद में मुग्ध करने की शक्ति होती है। छंद के द्वारा कल्पना का रूप सजग होकर मन के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। छंद की व्यंजना शक्ति भी गद्य की अपेक्षा अधिक होती है। उसके माध्यम से थोड़े शब्दों में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। छंद की सीमा में बंधकर भाव उसी प्रकार अधिक वेगवान और प्रभावशाली हो जाता है जिस प्रकार तटों के बंधन से सरिता। छंद के आवर्तन में ऐसा आह्लाद होता है, जो तुरंत मर्म को स्पर्श करता है। स्थिर कथा को वेग देकर चित्त में प्रवेश कराने का श्रेय छंद को ही है। छंद भावों का परिष्कार कर कोमलता का निर्माण करता है। छंदों के अनेक भेदोपभेद मिलते हैं। रसखान ने भक्तिकाल की गेय-पद परंपरा से हटकर सवैया, कवित्त और दोहों को ही अपनी रचना के उपयुक्त समझकर अपनाया।

सवैया छंद

इस छंद की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डा. नगेन्द्र का विचार है कि सवैया शब्द सपाद का अपभ्रंश रूप है। इसमें छंद के अंतिम चरण को सबसे पूर्व तथा अंत में पढ़ा जाता था अर्थात् एक पंक्ति दो बार और तीन पंक्तियां एक बार पढ़ी जाती थीं। इस प्रकार वस्तुतः चार पंक्तियों का पाठ पाँच पंक्तियों का-सा हो जाता था। पाठ में 'सवाया' होने से यह छंद सवैया कहलाया। संस्कृत के किसी छंद से भी इसका मेल नहीं हे। अतः यह जनपद-साहित्य का ही छंद बाद के कवियों ने अपनाया होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है।' यदि यह अनुमान सत्य हो तो प्राकृत, अपभ्रंश आदि में यह छंद अवश्य मिलना चाहिए जो हिन्दी में रूपांतरित हो गया है। किन्तु ऐसे किसी छंद के दर्शन नहीं होते। यह संभव है कि तेईस वर्णों वाले संस्कृत के उपजाति छंद के 14 भेदों में से किसी एक का परिवर्तित रूप सवैया बन गया हो। सवैया 22 अक्षरों से लेकर 28 अक्षरों तक का होता है। उपजाति भी 22 अक्षरों का छंद है। अक्षरों का लघु-गुरु भाव-सवैया में भी परिवर्तन ग्रहण करता है। वैदिक छंदों का भी लौकिक संस्कृत छंदों तक आते बड़ा रूप परिवर्तन हुआ। हो सकता है कि उपजाति का परिवर्तित रूप सवैया हो जो सवाया बोलने से सवैया कहलाया। 'प्राकृतपेंगलम्' में भी सवैयों का रूप मिलता है, किन्तु वहां उसे

सवैया संज्ञा नहीं दी गई। 'प्राकृतपेंगलम्' का रचनाकाल संवत 1300 के आस-पास माना जाता है। अत: सवैया के प्रयोग का अनुमान 13वीं शताब्दी से लगाया जा सकता है। भक्तिकाल में गेय पदों का व्यवहार विशेष रूप से होने लगा।

सूरदास के आविर्भाव तक हिन्दी में सवैयों का प्रचलन नहीं हुआ।

जगनिक के आल्हा खंड में कुछ सवैये अवश्य प्राप्त हैं, किन्तु उनकी भाषा से यही अनुमान होता है किये बाद में क्षेपक रूप में आए। प्रामाणिक रूप से इस छंद का प्रयोग अकबर के काल से प्रारंभ होता है।

पं. नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' सवैयों और दोहों में ही लिखा गया है।

तुलसीदास ने 'कवितावली' में इन्हीं छंदों का आश्रय लिया है।

केशवदास की 'रामचंद्रिका' में भी सवैये काफी मिलते हैं।

इस प्रकार रसखान ने भक्ति काल की पद परंपरा से हटकर सवैया छंद को अपनाया।

घनाक्षरी

घनाक्षरी या कवित्त के प्रथम दर्शन भक्तिकाल में होते हैं। हिन्दी में घनाक्षरी वृत्तों का प्रचलन कब से हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है।

चंदवरदायी के पृथ्वीराज रासों में दोहा तथा छप्पय छंदों की प्रचुरता है। सवैया और घनाक्षरी का वहां भी प्रयोग नहीं मिलता। प्रामाणिक रूप से घनाक्षरी का प्रयोग अकबर के काल में मिलता है। घनाक्षरी छंद में मधुर भावों की अभिव्यक्ति उतनी सफलता के साथ नहीं हो सकती जितनी ओजपूर्ण भावों की।

रसखान ने छंद की प्रवृत्ति का विचार न करते हुए श्रृंगार तथा भक्ति रस के लिए इस छंद का प्रयोग किया और लय तथा शब्दावली के आधार पर इसे भावानुकूल बना लिया।

सोरठा

यह अर्द्ध सम मात्रिक छंद है। दोहा छंद का उलटा होता है। इसमें 25-23 मात्राएँ होती हैं। रसखान के काव्य में चार' सोरठे मिलते हैं। प्रीतम नंदकिशोर, जा दिन ते नैननि लग्यौ।

मनभावन चित चोर, पलक औट नहि सहि सकौ।।'

इस प्रकार रसखान के काव्य में कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं।

इनके अतिरिक्त एक धमार सारंग, राग पद में भी मिलता है।

रसखान के छंद कोमल कांत पदावली से युक्त हैं। उनमें संगीतात्मकता है। दोहा जैसे छोटे छंद में गूढ़ तथ्यों का निरूपण उनकी प्रतिभा का परिचायक है। छंदों में अंत्यानुप्रास का सफल निर्वाह हुआ है। साथ ही छंद, भाव तथा रसानुकूल हैं।

छंद और शब्द स्वरूप विपर्यय

काव्य में सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए तथा छंदानुरोध पर प्रायः कवि शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा करते हैं रसखान ने भी काव्य चमत्कार एवं छंद की मात्राओं के अनुरोध पर शब्दों के स्वरूप को बदला है–

झलकैयत, तुलैयत, ललचौयत, लैयत'–छंदाग्रह से झलकाना, तुलाना, ललचाना, लाना शब्दों से।

पग पैजनी बाजत पीरी कछौटी'-कृष्ण की वय की लघुता के आग्रह, स्वाभाविकता एवं सौंदर्य लाने के लिए कछौटा से कछौटी।

टूटे छरा बछरादिक गौधन'–छंदानुरोध पर तथा बछरा से शब्द साम्य के लिए छल्ला से छरा।

मोल छला के लला ने बिकेहौं'–लला के आग्रह से छला।

मीन सी आंखि मेरी अंसुवानी रहैं'–आँसुओं से भरी रहने के अर्थ में माधुर्य लाने के लिए आँसू से अंसुवानी।

मान की औधि घरी'–छंद की मात्रा के आग्रह से अवधि से औधि।

पांवरिया, भांवरिया, डांवरिया, सांवरिया, बावरिया'–पौरी, भौंरी, सांवरे, बावरी आदि से छंदानुरोध पर पांवरिया, भांवरिया बना लिया गया।

लकुट्टनि, भृकुट्टनि, उघुट्टनि, मुकुट्टनि'–छंदाग्रह से लकुटी, भृकुटी, मुकुट आदि शब्दों से बनाया।

हम हैं वृषभानपुरा की लली'–लला (पुत्र) के जोड़ पर पुत्री के अर्थ में लली शब्द का प्रयोग हुआ है।

फोरि हौ मटूकी माट'–छंदानुरोध पर मटुकी से मटूकी।

ज्ञानकर्म 'रु' उपासना, सब अहमिति को मूल–यहाँ छंदानुरोध पर अरु से 'रु' किया गया है।

रसखान के काव्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहां उन्होंने छांदिक सौंदर्य के लिए शब्दों के रूप में परिवर्तन किया है। किंतु इस शब्द–विपर्यय में कहीं भी अस्वाभाविकता के दर्शन नहीं होते। न ही शब्द नट की कला की भांति रूप बदलते हैं। कहीं–कहीं तो उन्होंने शब्दों को इस प्रकार संजोया है कि स्वाभाविकता के दर्शनों के साथ भाव–सौंदर्य भी दिखाई देता है। मोर, पंखा, मुरली, बनमाल लखें हिय को हियरा उमह्यौरी, यहाँ मसृणता लाने के लिए हियरा शब्द का प्रयोग किया गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रसखान छंद योजना में पूर्ण सफल हैं। अंत्यानुप्रास के सुंदर स्वरूप को भी उन्होंने अपने छंदों में स्थान दिया है। साथ ही उनमें संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है।

अलंकार–योजना

अलंकार शब्द का अर्थ है जो दूसरी वस्तु को अलंकृत करे–अलंकरोति इति अलंकार।

आचार्य दण्डी ने कहा है कि काव्य के सभी शोभाकारक धर्म अलंकार हैं।' उनकी इस परिभाषा में चमत्कार उत्पन्न करने वाले सभी काव्य तत्त्वों की विशेषताओं को अलंकार मान लिया गया है।

अलंकार से भामह का अभिप्राय ऐसी शब्द उक्ति से है, जो वक्र अर्थात् विचित्र अर्थ का विधान करने वाली हो।' अलंकार शब्द और अर्थ में विद्यमान कवि प्रतिभोत्थित ऐसे वैचित्र्य को अलंकार कह सकते हैं, जो वाक्य–सौंदर्य को अतिशयता प्रदान करता है। इसी से सभी भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य में अलंकार के महत्त्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है।

अलंकारों के विधिवत प्रयोग से ही काव्य अलंकृत होता है। नीरस काव्य में अलंकार–योजना उक्ति वैचित्र्य मात्र हैं। अलंकार–प्रयोग में औचित्य का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए। रसखान ने इसका ध्यान रखा है। कविवर रसखान की गणना भक्त कवियों में की जाती है। भक्ति काव्यधारा के कवियों ने अलंकारों का सन्निवेश बहुतायत से किया है, परन्तु उन्होंने अलंकारों की अपेक्षा अलंकार्य–भाव–रस को ही अधिक गौरव दिया है। रसखान की प्रवृत्ति भी ऐसी ही है। उन्होंने भाव पर अधिक बल दिया है। बाहरी तड़क–भड़क और

अलंकारों के बरबस विधान का प्रयास नहीं किया। उनकी रचना में आए हुए अलंकार स्वाभाविक और अभिव्यक्ति को प्रांजल बनाने में सहायक हैं। अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप आदि अलंकारों का सफल प्रयोग हुआ है।

शब्दालंकार

अनुप्रास केवल भारतीय कवियों ने ही नहीं बल्कि पाश्चात्य कवियों ने भी अनुप्रास अलंकार का बहुत अधिक रुचि के साथ प्रयोग किया है। अनुप्रास की परिभाषा एवं स्वरूप के विषय में भी आचार्य मूलतः एकमत हैं। स्थूल रूप से, वर्णसाम्य को 'अनुप्रास' कहा गया है। आचार्य भामह के अनुसार स्वरों की विषमता होने पर भी व्यंजनों की ऐसी आवृत्ति जिसमें बहुत व्यवधान न हो और जो रस एवं भाव के अनुकूल हो, उसे 'अनुप्रास' कहते हैं।' अनुप्रास के प्रधानतः दो भेद हैं–

छेकानुप्रास जहां एक या अनेक वर्णों की क्रमानुसार आवृत्ति केवल एक बार हो अर्थात एक या अनेक वर्णों का प्रयोग केवल दो बार हो, वहां छेकानुप्रास होता है। छेकानुप्रास का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

देखौ दुरौ वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन।'

मैन मनोहर बैन बजै सुसजै तन सोहत पीत पटा है।'

उपर्युक्त पहली पंक्ति में 'द' और 'क' का तथा दूसरी पंक्ति में 'म' और 'ब' का प्रयोग दो बार हुआ है। इन वर्णों की आवृत्ति एक बार होने से यहाँ छेकानुप्रास है।

वृत्यानुप्रास जहां वृत्तियों (उपनागरिका, परुषा और कोमला) के अनुसार एक या अनेक वर्णों की आवृत्ति क्रमपूर्वक अनेक बार हो। रसखान के काव्य में अनुप्रास की बड़ी चित्ताकर्षक योजना हुई है। अनुप्रास की नियोजना से कविता सुनने में भली लगती है। उससे कविता का प्रभाव परिवर्धित हो जाता है। रसखान के कवित्त और सवैयों की वर्णयोजना भावक के मन को तरंगित करती रहती है। भावानुकूल अनुप्रास का प्रयोग सफल कवि ही कर सकते हैं। रसखान ने अपने को इस कला में पारंगत सिद्ध किया है। रसखान की कविता में वृत्यानुप्रासयुक्त अनेकानेक सुंदर सवैये और कवित्त हैं। ऐसा लगता है कि कवि शब्दों को नचाता हुआ चल रहा है।

सेष गनेस महेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सु बेद बतावैं।'
अथवा
छकि छैल छबीली छटा छहराइ के कौतुक कोटि दिखाइ रही।'

यमक

जहां भिन्नार्थक वर्णों (निरर्थक या सार्थक) की क्रमशः पुनरावृत्ति हो, वहां 'यमक' अलंकार होता है।' 'यमक' का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा। इस अलंकार का नाम 'यमक' इसलिए रखा गया है, क्योंकि इसमें एक जैसे दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। सार्थक वर्ण समूह की अपेक्षा निरर्थक वर्णसमूह की आवृत्ति यमक के चमत्कार में विशेष वृद्धि करती है। यमक में कहीं दोनों वर्ण समूह सार्थक होते हैं, कहीं दोनों निरर्थक एवं कहीं एक सार्थक होता है और एक निरर्थक।

श्लेष

जहां श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों का कथन किया जाय वहां 'लेष अलंकार होता है।' 'लेष प्रायः अन्य अलंकारों का सहयोगी होकर ही काव्य में योजित होता है। भावुक कवियों के काव्य में इस अलंकार का प्रयोग बहुत सीमित रूप में हुआ है। इसका कारण यह है कि 'लेष में ऐसे शब्दों का विधान होता है जो अनेक अर्थों को प्रकट करते हैं। अनेकार्थक शब्दों की योजना में प्रयास करना पड़ता है। 'लेष के द्वारा काव्य का बाह्य आवरण ही अधिक अलंकृत होता है।

रसखान के काव्य में इस अलंकार का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। रसखान निश्छल भावनाओं को व्यक्त करने वाले कवि हैं। और श्लेष भावोत्कर्ष में बहुत अधिक सहयोगी नहीं होता। फिर भी कहीं-कहीं उसकी योजना सुंदर रूप में हुई है–

मन लीनो प्यारे पै छटांक नहिं देत।
यहै कहा पाटी पढ़ी दल को पीछो लेतघ'

इस दोहे में 'मन' और 'छटांक' शब्द में स्पष्ट रूप से 'लेष है। 'मन' का अर्थ है चित्त और दूसरा अर्थ है 'चालीस सेर'। इसी तरह 'छटांक' का एक अर्थ है झलक या कटांछ (कटाक्ष) और दूसरा अर्थ है सेर का सोलहवाँ भाग।

वक्रोक्ति

किसी एक अभिप्राय वाले कहे हुए वाक्य का, किसी अन्य द्वारा 'लेष अथवा काकु से, अन्य अर्थ लिए जाने को 'वक्रोक्ति' अलंकार कहते हैं।' वक्रोक्ति अलंकार दो प्रकार का होता है–श्लेष वक्रोक्ति और काकु बक्रोक्ति। श्लेष वक्रोक्ति में किसी शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण वक्ता के अभिप्रेत अर्थ से अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है और काकु वक्रोक्ति में कंठ ध्वनि अर्थात् बोलने वाले के लहजे में भेद होने के कारण दूसरा अर्थ कल्पित किया जाता है। वक्रोक्ति अलंकार का नियोजन एक कष्टसाध्य कर्म है, जिसके लिए प्रयास करना अनिवार्य है। भावुक कवियों ने इसका प्रयोग कम ही किया है। रसखान की रचनाओं में वक्रोक्ति की योजना नाममात्र को है, परंतु जो है, वह सहृदय के चित्त को प्रसन्न करने वाली है। दानलीला के प्रसंग में कवि की कला का चमत्कार द्रष्टव्य है–

छीर जौ चाहत चीर गहैं अजू लेउ न केतिक छीर अचौहौ।
चाखन के मिस माखन माँगत खाउ न माखन केतिक खैड़ौ।
जानति हौं जिय की रसखानि सु काहेकौं एतिक बात बढ़ैहौ।
गौरस के मिस जो रस चाहत सौ रस कान्हजू नेकु न पैहौ।'

:कान्हजू' ने गोपी के प्रति जो चेष्टा की उसका उत्तर वह बड़े वक्रतापूर्ण ढंग से देती है। यदि 'चीर' गहने से 'छीर' चाहते हो, तो लो कितना पीओगे, चखने के बहाने मक्खन मांगते हो तो लो खाओं, कितना खाओगे, परंतु गोपी कृष्ण की इन चेष्टाओं का दूसरा अर्थ लेती हुई कहती है कि मैं तुम्हारे मन की बात जानती हूं, तुम गौरस (दूध, दही, घी) के बहाने 'गौरस' (इन्द्रियों का रस) चाहते हो, तो लो सुन लो कि वह रस तुम जरा-सा भी नहीं पाओगे। सवैया की अंतिम पंक्ति में वक्रोक्ति की सरस एवं नाट्यमय व्यंजना हुई है।

रूपक

उपमेय पर उपमान के निषेध-रहित अभेद आरोप को रूपक कहते हैं।' 'आरोप' का अर्थ है–रूप देना अर्थात् दूसरे के रूप में रंग देना। यह 'आरोप' कल्पित होता है। रूपक में उपमेय को उपमान समझ लिया जाता है। उपमा में उपमेय और उपमान में सादृश्य होते हुए भी भिन्नता होती है, जबकि रूपक में दोनों एक से जान पड़ते हैं। उनमें एकरूपता होती है। रूपक के तीन मुख्य भेद हैं–

सांगरूपक–जहां उपमेय में उपमान का अंगों के सहित आरोप हो वहां सांगरूपक होता है।

निरंगरूपक–अंगों से रहित उपमान का जहां उपमेय में आरोप होता है वहां निरंगरूपक होता है।

परंपरितरूपक–जहां एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो वहां परंपरितरूपक होता है।

रूपक अलंकार की निबंधना में भारतीय महाकवियों की विशेष प्रवृत्ति रही है। यह रसखान का भी प्रिय अलंकार है। उनके काव्य में स्थल-स्थल पर रूपकों की सुन्दर नियोजना की गई है। वे स्वाभाविक रूप से आए हैं तथा उनके द्वारा भावों की मार्मिक व्यंजना हुई है। रूपक चित्तविधायक अलंकार है। रसखान ने इसका सफल प्रयोग किया है। प्रेम किया नहीं जाता, हो जाता है। नायिका ने नायक को देखा और उसका मन उसके हाथ से निकल गया। वह प्रियतम के प्रति बेबस हो गई–

नैन दलालनि चौहटैं, मन-मानिक पिय हाथ।
रसखाँ ढोल बजाइ कै, बैच्यौ हिय जिय साथ।।'

उपरिलिखित दोहे में सांगरूपक की योजना दर्शनीय है। नैन रूपी दलालों ने मन रूपी मानिक को ढोल बजाकर बीच बाजार में हृदय और प्राण के सहित प्रियतम के हाथ बेच दिया। इसी से मिलती-जुलती बात बिहारी ने भी कही है-

लोभ लगे हरि-रूप के, करी साँटि जुरि जाइ।
हौं इन बेची बीच ही, लौइन बड़ी बलाइ।।'

शरीर का रूपक बाग के रूप में बांधती हुई नायिका के कथन में शुद्ध श्रृंगारपरक सांगरूपक की योजना चित्ताकर्षक है-

बागन काहे को जाओ पिया घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊँ।
एड़ी अनार सी मौरि रही, बहियाँ दोउ चंपे की डार नवाऊँ।
छातिन में रस के निबुआ अरु घूंघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
ढांगन के रस के चसकै रति फूलन की रसखानि लुटाऊँ'

इस सवैये में बाहों पर चंपा की झुकी हुई डाल का, स्तनों पर सरस नीबू का और ओठों पर अंगूर का आरोप अंग-रूप से करके बाग-रूपी शरीर के मुख्य रूपक को पूर्ण किया है। इस प्रकार यहाँ पर सांगरूपक की नियोजना की गई है। निरंगरूपक के अंकन में भी रसखान खूब सफल रहे हैं। नायक पर मोहित हुई नायिका कहती है–

खंजन नैन फंदे पिंजरा छबि, नाहि रहै थिर कैसे हूँ माई।'

यहाँ पर नायिका के खंजन रूपी नेत्रों का नायक के छवि रूपी पिंजड़े में फंस जाने का वर्णन है। 'नैन' उपमेय पर 'खंजन' उपमान का आरोप हुआ है। इसमें 'नैन' उपमेय के अंगों में खंजन उपमान के अंगों का आरोप नहीं हुआ है। यही स्थिति 'पिंजरा' और 'छवि' की भी है। निरंग रूपक का एक उदाहरण और लीजिए। नन्दकुमार को देखने के लिए नन्द के घर गई हुई गोपी लौटकर अपनी सखी से अपने अनुभव का वर्णन करती है–

जोहन नन्दकुमार कौं गई नन्द के गेह।
मौहिं देखि मुसकाइ कै बरस्यौ मेह सनेह।।'

यहाँ 'मेह सनेह' में रूपक हे, अर्थात मेह-रूपी स्नेह की वर्षा हो गई। स्नेह की अतिशयता सूचित करने के लिए उसे मेह के रूप में चित्रित किया गया है। उपर्युक्त उद्धरणों के संदर्भ में कहा जा सकता है कि रूपक अलंकार की योजना में रसखान को अतीव सफलता मिली है।

उत्प्रेक्षा

जहां प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना की जाय, वहां उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।' 'उत्प्रेक्षा' (उत्प्रईक्षा) का शाब्दिक अर्थ है, ऊंचा देखना अर्थात् उड़ान लेना। उपमेय और उपमान को परस्पर भिन्न जानते हुए भी इस अलंकार में कल्पना की ऊंची उड़ान के सहारे उपमेय को उपमान समझने का प्रयत्न किया जाता है। 'संभावना' का तात्पर्य 'एक कोटि का प्रबल' ज्ञान है। इसमें ज्ञान पूरा निश्चायात्मक नहीं होता, बल्कि थोड़ा कम होता है। उत्प्रेक्षा रसखान के सबसे प्रिय अलंकारों में से एक है। इसके अनेक प्रयोग उनके काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं। इसका कारण यह हे कि उत्प्रेक्षा का प्रयोग करते हुए कवि-कल्पना को उड़ान भरने की अधिक गुंजाइश रहती है। रसखान ने अपनी कवि-कल्पना का सदुपयोग करते हुए उत्प्रेक्षा अलंकार का विविध प्रसंगों में रमणीय विधान किया है।

गोपी गोकुल में दहीं बेचने के लिए निकली। रास्ते में कृष्ण से उसकी भेंट हो गई। आँखें चार हुईं। वह कामाभिभूत हो गई। दान मांगते हुए कृष्ण अपनी अड़ पर डट गए। सात्विक भाव 'कंप' और संचारी भाव भय से युक्त गोपी के उस रूप की कितनी हृदयस्पर्शी उत्प्रेक्षा रसखान ने निम्नलिखित सवैये में की है–

पहले दधि लै गइ गोकुल में चख चारि भए नटनागर पै।
रसखानि करी उनि मैनमई कहें दान दै दान खरै अर पै।
नख तैं सिख नील निचोल लपेटे सखी सम भांति कँपै डरपै।
मनौ दामिनि सावन के घन मैं निकसैं नहीं भीतर ही तरपै।'

नख से शिख तक नीला वस्त्र लपेटे हुए भय से कांपती हुई गोपी इस प्रकार शोभित हो रही है मानो सावन के बादल के बीच में बिजली घिर गई हो और बाहर न निकल पाने के कारण वह भीतर ही भीतर चमक रही हो। नील वस्त्र से आच्छादित गौर वर्ण युवती के बिजली के समान अंगों की ऐसी ही सुन्दर कल्पना 'कामायनी' में जयशंकर प्रसाद ने भी की है–

नील परिधान बीच सुकुमार

खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यौं बिजली का फूल
मेघ-वन-बीच गुलाबी रंग।'

अपन्हुति

जहां प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत का स्थापन किया जाय वहां 'अपन्हुति' अलंकार होता है। अपन्हुति केवल सादृश्य-संबंध में ही होती है। 'अपन्हुति' का शाब्दिक अर्थ है–छिपाना या निषेध करना। इसमें किसी सत्य बात को छिपाकर या निषेध करके उसके स्थान पर कोई झूठी बात स्थापित की जाती है। अपन्हुति की योजना में प्रायः कृत्रिमता आने की आशंका रहती हैं रसखान के काव्य में यह अलंकार बहुत ही विरल रूप में आया है। एकाध स्थलों पर इसकी चित्ताकर्षक व्यंजना हुई है। बांसुरी बजाते हुए, गौचरण का गीत गाते हुए, ग्वालों के साथ श्रीकृष्ण गोपिका की गली में आ गए। गोपिका उनकी बांसुरी की टेर को सुनकर कहती है–

बांसुरी में उनि मेरोई नांव सुग्वालिनि के मिस टेरि सुनायौ।

उपर्युक्त पंक्ति में अपन्हुति अलंकार की सुन्दर छटा है। यहाँ पर कृष्ण वंशी से गोपी-नाम-ध्वनि नहीं करते। वे 'सुग्वालिनि' की ध्वनि टेरते हैं। यहाँ गोपी के नाम का निषेध किया गया है और अप्रकृत 'सुग्वालिनि' नाम की स्थापना की गई है। लेकिन गोपी इस सत्य को समझती है कि उन्होंने बांसुरी में 'सुग्वालिनि' के मिस से मेरे नाम को ही सुनाया है।

अतिशयोक्ति

जहां उपमान द्वारा उपमेय का निगरण, असंबंध में मैं संबंध की कल्पना, उपमेय का अन्यत्व अथवा कारण और कार्य का पौवपिर्य–विपर्यय वर्णित हो, वहां 'अतिशयोक्ति' अलंकार होता है।' अतिशयोक्ति का अर्थ है अतिकान्त अथवा उल्लंघन अर्थात किसी वस्तु के विषय में लोकसीमा से बढ़ा–चढ़ाकर कथन करना। काव्य में अतिशयोक्ति के आधार पर ही कवि कल्पना की मधुर उड़ानें भरते हैं। सामान्य जीवन के व्यवहार में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग बहुलता से किया जाता है। अत: उसे मानव की स्वभाव–जन्य विशेषता कहा जा सकता है।

अतिशयोक्ति कवियों की परंपरा से प्राप्त अलंकार है। रसखान ने भी काव्य परंपरागत रूप में ही उसको ग्रहण किया है, जिससे उसमें नवीनता और कथन में सुंदर चमत्कार आ गया है। उनकी अतिशयोक्ति–योजना केवल वैचित्र्य–प्रदर्शन बनकर ही नहीं रह गई है, बल्कि अभिप्रेत वर्ण्य विषय में उत्कर्ष लाने को पूर्णत: समर्थ है। कवि सौन्दर्य–निकेतन राधा की अनिंद्य रूप–छटा का चित्रण करता हुआ अतिशयोक्ति करता है–

बासर तूँ जु कहूँ निकरै रबि को रथ माँझ अकास अरैरी।
रैन यहै गति है रसखानि छपाकर आँगन तें न टरे री।
द्यौस निस्वास चल्यौई करै निसि द्यौंस की आसन पाय धरै री।
तेरो न जात कछू दिन राति बिचारे बटोही की बाट परै री।।'

नायिका गोरे रंग की है। उसके सौन्दर्य में अप्रतिम आभा ही दर्शनीय है। सखी उसे बरजती हुई कहती है कि तू दिन में घर से बाहर न निकल अन्यथा तेरे रूप को देखने के लिए सूर्य का रथ आकाश में ही रुक जाएगा। यही स्थिति रात में भी होगी–चन्द्रमा आंगन में आकर तुझे टकटकी बांधकर देखता रहेगा, वहां से 'टरेगा' नहीं (शायद यह सोचकर कि मेरा प्रतिद्वन्द्वी कहाँ से आ गया)। (तू पद्मगंधा है अत:) दिन में वायु तेरी सुगन्ध लेने आती है। रात में भी वह दिन की सी आशा से पीछे लगा है। (तुम्हारे बाहर निकलने से) तुम्हारा तो कुछ नहीं जाएगा, हां पथिक बेचारे का रास्ता रुक जाएगा। (क्योंकि समय सूचक ये ग्रह रुक जाएंगे, अपना कार्य करना बन्द कर देंगे

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सवैये में कवि ने राधा की सौन्दर्य गरिमा का लोकसीमा से बढ़ा चढ़ाकर कथन किया है। अत: यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है। रसखान ने अतिशयोक्ति का परंपरागत रूपों में प्रयोग किया है।

व्यतिरेक

जहां उपमान की अपेक्षा अधिक गुण होने के कारण उपमेय का उत्कर्ष हो वहां 'व्यतिरेक' अलंकार होता है। व्यतिरेक का शाब्दिक अर्थ है आधिक्य। व्यतिरेक में कारण का होना अनिवार्य है। रसखान के काव्य में व्यतिरेक की योजना कहीं कहीं ही हुई है। किन्तु जो है, वह आकर्षक है। नायिका अपनी सखी से कह रही है कि ऐसी कोई स्त्री नहीं है जो कृष्ण के सुन्दर रूप को देखकर अपने को संभाल सके। हे सखी, मैंने 'ब्रजचन्द्र' के सलौने रूप को देखते ही लोकलाज को 'तज' दिया है, क्योंकि–

खंजन मील सरोजनि की छबि गंजन नैन लला दिन होनो।
भौंह कमान सो जोहन को सर बेधन प्राननि नंद को छोनो।'

यहाँ नन्दलाल के दिन दिन होनहार नयन खंजन, मीन और सरोज (कमल) से भी अधिक छवि वाले बतलाए गए हैं, किन्तु उनमें एक विशिष्टता और भी हे। वह यह कि कृष्ण 'भौंह कमान' से कटाक्ष का बाण छोड़कर प्राणों को बेधते हैं। यहाँ उपमेय में उपमान की अपेक्षा अधिक गुण होने के कारण व्यतिरेक अलंकार है। एक अन्य उदाहरण लीजिए–नायिका में यौवनागम हो गया है। उसकी भौंहो में बांकापन तथा चितवन में तिरछापन आ गया है। साथ ही 'टाँक सी लाँक भई रसखानि सुदामिनि ते दुति दूनी हिया की।'

यहाँ 'सुदामिनि तें दुति दूनी हिया की' में व्यतिरेक अलंकार है, क्योंकि, उपनेय नायिका के उभरे हुए वक्षस्थल की दुति बिजली से भी दूनी है–ऐसा कहा गया है।

पर्याय

जहां एक वस्तु की अनेक वस्तुओं में अथवा अनेक वस्तुओं की एक वस्तु में क्रम से (काल-भेद से) स्थिति का वर्णन हो वहां पर्याय अलंकार होता है।'

निम्नांकित पंक्तियों में कृष्ण की अनेक चेष्टाओं का वर्णन है–

काहू को माखन चाखि गयौ अरु काहू को दूध दही ढरकायौ।
काहूँ को चीर ले रूख चढ़यौ अरु काहू को गुंजछरा छहरायौ।'

'जसोमति' के 'छोहरा' (कृष्ण) किसी का मक्खन खा गए तो किसी का दही ढरका दिया, किसी का 'चीर' लेकर वृक्ष पर चढ़ गए तो किसी की गुंजाफल की माला को बिखेर दिया। यहाँ कृष्ण के द्वारा की जाने वाली अनेक क्रियाओं का वर्णन है। अत यहाँ पर्याय अलंकार है।

विरोधमूलक अलंकार, विरोधाभास

वस्तुत: विरोध न होने पर जहां विरोध का आभास हो वहां 'विरोधाभास' अलंकार होता है।' विरोध के कारण सामान्य उक्ति में भी अनोखा चमत्कार आ जाता है। इस अलंकार में विरोध केवल आभासित होता है लेकिन विचार करने पर उसका परिहार हो जाता है। ऐसी उक्तियों के कारण काव्य-सौन्दर्य में उत्कर्ष आता है। रसखान के काव्य में विरोधाभास अलंकार की योजना नाममात्र को हुई है। इसका कारण यह है कि वे भक्त थे, काव्य उनकी तीव्र भावाभिव्यक्ति का साधन था। वह बात को बेलाग कहते थे–बहुत अधिक घुमा फिरा कर नहीं। वचन-विदग्धता के प्रदर्शन की चेष्टा उन्होंने कहीं नहीं की है। प्रेम-पन्थ बड़ा विचित्र है–कमल नाल से भी क्षीण और खड्ग की धार से भी तीक्ष्ण। अनिवार प्रेम के मार्ग के विषय में कवि का 'विरोधाभास' चमत्कार देखिए–

कमलतंतु से हीन अरु, कठिन खड्ग की धार।
अतिसूधौ टेढ़ौ बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार।।'

जो सीधा है वह टेढ़ा कैसे हो सकता है? यहीं तो विरोधाभास है। प्रत्यक्षत: दोनों (सूधौ, टेढ़ौ) में विरोध दृष्टिगत होता है, परन्तु तत्त्वत विरोध है नहीं। प्रेम हो जाता है, उसमें छल-छंद रंचमात्र भी नहीं हे। वह निश्छल हृदय का प्रवाह है–इस दृष्टि से 'सूधौ' (सीधा) है। लेकिन प्रेम मार्ग पर चलना टेढ़ी खीर है, दुनिया का व्यंग्य और उपहास साथ रहता है, कठिनाइयाँ जीवन को अस्थिर कर देती हैं। इस दृष्टि से 'टेढ़ौ' (टेढ़ा) है। एक अन्य उदाहरण भी अवलोकनीय है। गोपी कृष्ण के अप्रतिम सौन्दर्य पर मुग्ध है। उनके नेत्र कटाक्ष को देखते ही उसकी लाज की गाँठ खुल जाती है–

सुनि री सजनी अलबेलो लला वह कुंजनि कुंजनि डोलत है।
रसखानि लखें मन बूड़ि गयौ मधि रूप के सिंधु कलोलत है।'

विसंगति

जहां आपातत: विरोध दृष्टिगत होते हुए, कार्य और कारण का वैयाधिकरण्य वर्णित हो, वहां असंगति अलंकार होता है।' इसमें दो वस्तुओं का वर्णन होता है–जिनमें कारण कार्य संबंध होता है। इन वस्तुओं की एकदेशीय स्थिति आवश्यक है, लेकिन वर्णन भिन्नदेशत्व का किया जाता है। रसखान के साहित्य में असंगति की योजना अत्यन्त सीमित रूप में हुई है। एक प्रभाव-व्यंजक

उदाहरण अवलोकनीय है। गोकुल के ग्वाल (कृष्ण) की मनोहर चेष्टाओं पर मुग्ध हुई गोपी कहती है–

पिचका चलाइ और जुवती भिजाइ नेह,
लोचन नचाइ मेरे अंगहि नचाइ गौ।'

यहाँ क्रिया कृष्ण के नेत्रों में होती है, परन्तु प्रभाव गोपी के अंग पर होता है। उसका अंग अंग उसके लोल लोचनों के कटाक्ष में नाच उठता है।

एकावली

जहां श्रृंखलारूप में वर्णित पदार्थों में विशेष्य विशेषण भाव संबंध हो वहां एकावली अलंकार होता है।' इस अलंकार की योजना कवि लोग केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए करते हैं। इसमें कल्पना की उड़ान का विनोदात्मक रूप होता है। निम्नांकित पंक्ति में कवि ने एकावली अलंकार का नियोजन किया है–

वा रस में रसखान पगी रति रैन जगी अंखियाँ अनुमानै।
चंद पै बिम्ब औ बिंब पै कैरव कैरव पै मुकतान प्रमानै।'

यहाँ पर नायिका के मुख, अधर और नेत्रों के अंगों का एक के बाद एक करके श्रृंखला रूप में वर्णन हुआ है। रात भर जागरण के कारण नायिका की आँख लाल हो गई हैं। उसके मुख पर चन्द्र पर बिंब (कुन्द–लाल आँखों की ललाई) है, बिंब पर कैरव (आँखों में सफेद कौए) हैं और 'कैरव' पर मुक्ताएं (रात भर जागने से जंभाई लेने पर स्वत: निकल पड़ने वाली आँसू की बूँदें) हैं। रसखान ने 'एकावली' का प्रयोग एकाध स्थलों पर ही किया है।

अन्य संसर्ग मूलक अलंकार, उदाहरण

सामान्य रूप से ही हुई बात को स्पष्ट करने के लिए जहां उसी सामान्य में एक अंश को उदाहरण के रूप में रखा जाता है, वहां उदाहरण अलंकार होता है।' उदाहरण अलंकार की योजना रसखान ने अल्प मात्रा में की है। उनके उदाहरण सामान्य जीवन से ग्रहण किए गए हैं और सुन्दर बन पड़े हैं 'उदाहरण' के कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं–रसखानि गुबिंदहि यौं भजियै जिमि नागरि को चित गागरि मैं।' कवि कहता है कि गोविन्द का भजन एकाग्र चित्त से करना चाहिए। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वह एक उदाहरण देता है कि मन को भगवान में उसी प्रकार केन्द्रित रखना चाहिए, जिस प्रकार सिर पर कई घड़े

रखकर चलने वाली नागरी संतुलन बनाये रखने के लिए अपने मन को घड़े पर केन्द्रित रखती है। यहाँ कवि ने सामान्य जीवन से रमणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होय द्वै यौं लसैं, ज्यों सूरज औ' धूप।'

इस दोहे में कवि को इष्ट है 'प्रेम' और 'हरि' (ईश्वर) की एकरूपता प्रतिपादित करना। एक होते हुए ये दोनों कैसे शोभित होते हैं–इसको स्पष्ट करने के लिए उसने सूरज और धूप का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

अन्य अलंकार, अनुमान

साधन के द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान के वर्णन को अनुमान अलंकार कहते हैं। अनुमान अलंकार में हेतु के द्वारा साध्य का अनुमान कराया जाता है और यह ज्ञान कवि के द्वारा कल्पित चमत्कार से पूर्ण होता है। रसखान के काव्य में इस अलंकार का प्रयोग बहुत कम हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

मोहनलाल कौ हाल बिलौकियै नैकु कछू किनि छवै कर सौं कर।
ना करिबे पर बारें हैं प्रान कहा करि हैं अब हाँ करिबे पर।'

नायिका मान कर रही है और नायक उसे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहा है। सखी नायिका को समझाती है कि मान करने की अवधि तो घड़ी भर की होती है और तुम इतनी देर से तीक्ष्ण नेत्रों से देख देखकर नायक के हृदय को बेध रही हो। मोहन लाला तुमसे प्रेम करने के लिए बेहाल हो रहे हैं। जरा अनुमान तो करो कि तुम्हारे 'ना' करने पर जब उनकी यह हालत है तो 'हां' करने पर क्या स्थिति होगी।

लोकोक्ति

जहां वर्णित प्रसंग में लोक-प्रसिद्ध प्रवाद (मुहावरा, लोकोक्ति आदि) का कथन किया जाय, वहां 'लोकोक्ति' अलंकार होता है। रसखान के काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग सुन्दर रूप में हुआ है। कवि ने उन्हें भावों के भूषण में चमकते हुए नगीनों की तरह स्थान स्थान पर जड़ दिया है। इसके अनेक सरस उदाहरण द्रष्टव्य हैं। नायक और नायिका दोनों कालिन्दी के तीर पर मिलते हैं, मुड़-मुड़कर मुस्कराते हैं, एक दूसरे की बलैयाँ लेते हैं। इसे लक्ष्य

करके कोई सखी कहती हे कि दोनों ने आजकल लोक-लाज को त्याग दिया है, केवल स्नेह को 'सरसा' रहे हैं, उन्हें नहीं मालूम कि आगे क्या होगा-

यह रसखानि दिना द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँ लौं सयानी चंदा हाथन छिपाइबौ।'

दो दिन में बात फैल जाती है। चन्द्रमा को हाथ से नहीं छिपाया जा सकता। यह लोक-प्रसिद्धि है। लोकोक्ति अलंकार की सहायता से लक्षणा द्वारा सखी यह कहना चाहती है कि गोपी और कृष्ण की इस प्रेम-लीला को गुप्त रखना असम्भव है। ब्रज में इसकी चर्चा फैलते देर नहीं लगेगी। इसी तरह निम्नांकित उद्धरण में भी कवि ने 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' लोकोक्ति का बड़ा ही रमणीय प्रयोग किया है-

करियै उपाय बाँस डारियै कटाय,
नहिं उपजैगौ बाँस नाहिं बाजै फेरि बांसुरी।'

कृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ तन्मय होकर व्याकुल हो जाती हैं। उन्हें न तो पानी का घड़ा भरने की सुधि रहती है और न पग धरने की। वे घर का ध्यान की भूलकर लम्बी-लम्बी उसांसें भरने लगती हैं। कोइर बेहाल होकर भूमि पर गिर जाती है तो कोई-कोई आंसुओं से पूरित आँखों वाली हो जाती है। कवि कहता है कि ब्रज-बनिताओं के मन का वध करने वाली बंशी कुलीनता का ध्वंस करने वाली है। इसका तो एक ही उपाय है कि बांस की कटा दिए जाएँ, इससे यह होगा कि न तो बांस उपजेंगे और न ही फिर बंशी बजेगी। कवि ने अलंकार का कितना प्रभावशाली प्रयोग किया है।

मानवीकरण

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव से हिन्दी में कुछ आधुनिक अलंकारों की चर्चा भी होने लगी है। उन्हीं में से एक अलंकार 'मानवीकरण' है। यह शब्द अंग्रेजी के 'परसोनिफिकेशन' का हिन्दी अनुवाद है। 'अमानव' में 'मानव' गुणों के आरोप करने की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रिया को 'मानवीकरण' कहा जाता है।' मानवीकरण के द्वारा वर्णनीय विषय में मार्तिकता और प्रेषणीयता लाई जाती है। हिन्दी की छायावादी कविता में मानवीकरण का बड़ा ही मनोहर एवं सशक्त प्रयोग हुआ है। प्राचीन कवियों के काव्य में भी मानवीकरण की विशेषताएं उपलब्ध हैं। सहज भावुक कवि रसखान ने भी 'मानवीकरण' अलंकार की सुन्दर योजना की है। कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं-

प्रेमी की मुस्कान पर मुग्ध नायिका कहती हैकृ बैरिनि वाहि भई मुसकानि जु वा रसखानि के प्रान बसी है।' यहाँ 'मुसकानि' चेतन प्राणी नहीं है। (न मानव ही है) फिर भी उसे 'बैरिनि' कहा गया है। बैरिणी वही हो सकती है जो चेतन हो। 'मुसकानि' का यहाँ मानवीकरण करके उक्ति में चमत्कार लाया गया है। अतएव यह 'मानवीकरण' अलंकार का उदाहरण है।

वहि बाँसुरि की धुनि कान परें कुलकानि हियौ तजि भाजति है।' 'कुलकानि' प्राणी नहीं है, जो भागे कुलकानि की चिन्ता मानव को ही हो सकती है। जानवरों में इस प्रकार की भावना नहीं होती। अत: यहाँ 'कुलकानि' में मानव की विशेषता को चित्रित करके उसका मानवीकरण किया गया है।'मोहन में नायिका का मन अटका हुआ है तथा मन को चौन नहीं पड़ता और स्थिति यह है कि–व्याकुलता निरखे बिन मूरति भागति भूख न भूषन भावै।' यहाँ भागति भूख में मानवीकरण अलंकार है, क्योंकि अमूर्त और अचेतन 'भूख' का मानवीकरण किया गया है तथा उसमें भागने की विशेषता दिखाई गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रसखान की कविता में विभिन्न प्रकार के शब्दगत और अर्थगत अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

कवि ने कहीं चमत्कार लाने के लिए अलंकारों को बरबस ठूंसने की चेष्टा नहीं की है। भाव और रस के प्रवाह पर भी उसकी दृष्टि केन्द्रित रही है। भावों और रसों की अभिव्यक्ति को उत्कृष्ट बनाने के लिए ही अलंकारों की योजना की गई है। उचित स्थान पर अलंकारों का ग्रहण किया गया है। उन्हें दूर तक खींचने का व्यर्थ प्रयास नहीं किया गया है। औचित्य के अनुसार ठीक स्थान पर उनका त्याग कर दिया गया है। रसखान द्वारा प्रयुक्त अलंकार अपने 'अलंकार' नाम को सार्थक करते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास और अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक की निबंधना में कवि ने विशेष रूचि दिखाई है। बड़ी कुशलता के साथ उनका सन्निवेश किया है, उन्हें इस विधान में पूर्ण सफलता मिली है। अलंकारों की सुन्दर योजना से उनकी कविता का कला-पक्ष नि:सन्देह निखर आया है।

5

दादू दयाल के साहित्य में बिंब योजना

दादू दयाल हिन्दी के भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख सन्त कवि थे। इन्होंने एक निर्गुणवादी संप्रदाय की स्थापना की, जो 'दादूपंथ' के नाम से ज्ञात है। वे अहमदाबाद के एक धुनिया के पुत्र और मुगल सम्राट् शाहजहाँ (1627–58) के समकालीन थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन राजपूताना में व्यतीत किया एवं हिन्दू और इस्लाम धर्म में समन्वय स्थापित करने के लिए अनेक पदों की रचना की। उनके अनुयायी न तो मूर्तियों की पूजा करते हैं और न कोई विशेष प्रकार की वेशभूषा धारण करते हैं। वे सिर्फ राम का नाम जपते हैं और शांतिमय जीवन में विश्वास करते हैं, यद्यपि दादू पंथियों का एक वर्ग सेना में भी भर्ती होता रहा है। भारत के अन्य भक्त और संत की तरह दादू दयाल के जीवन के बारे में भी प्रामाणिक जानकारी का अभाव है। इनका जन्म, मृत्यु, जीवन और व्यक्तित्व किंवदन्तियों, अफवाहो और कपोल-कल्पनाओं से ढका हुआ है। इसका एक कारण यह है कि ये संत आम जनता के बीच से उभरे थे।

जीवन परिचय

दादू पेशे से धुनिया थे और बाद में वह धार्मिक उपदेशक तथा घुमक्कड़ बन गए। वह कुछ समय तक सांभर व आंबेर और अंततः नारायणा में रहे, जहाँ

उनकी मृत्यु हुई। ये सभी स्थान जयपुर तथा अजमेर (राजस्थान राज्य) के आसपास है। उन्होंने वेदों की सत्ता, जातिगत भेदभाव और पूजा के सभी विभेदकारी आडंबरों को अस्वीकार किया। इसके बदले उन्होंने जप (भगवान के नाम की पुनरावृत्ति) और आत्मा को ईश्वर की दुल्हन मानने जैसे मूल भावों पर ध्यान केंद्रित किया। उनके अनुयायी शाकाहार और मद्यत्याग पर जोर देते हैं और सन्न्यास दादू पंथ का एक अनिवार्य घटक है। दादू के उपदेश मुख्यत: काव्य सूक्तियों और ईश्वर भजन के रूप में हैं, जो 5, 000 छंदों के संग्रह में संग्रहीत है, जिसे बानी (वाणी) कहा जाता है। ये अन्य संत कवियों, जैसे कबीर, नामदेव, रविदास और हरिदास की रचनाओं के साथ भी किंचित परिवर्तित छंद संग्रह पंचवाणी में शामिल हैं। यह ग्रंथ दादू पंथ के धार्मिक ग्रंथों में से एक है। आम जनता का विवरण आम तौर पर कहीं नहीं मिलता। यही कारण है कि इन संतों के जीवन का प्रामाणिक विवरण हमें नहीं मिलता। दादू, रैदास और यहाँ तक की कबीर का नामोल्लेख भी उस युग के इतिहास-ग्रंथों में यदा-कदा ही मिलता है। संतों का उल्लेख उनकी मृत्यु के वर्षों बाद मिलने लगता है, जब उनके शिष्य संगठित राजनीतिक-सामाजिक शक्ति के रूप में उभर कर आने लगे थे। इतनी उपेक्षा के बावजूद, दादू दयाल उन कवियों में से नहीं हैं, जिन्हें भारतीय जनता ने भुला दिया हो। आधुनिक शोधकर्ताओं ने अनुसंधान करके ऐसे अनेक विस्मृत कवियों को खोज निकालने का गौरव प्राप्त किया है।

विभिन्न मतों के अनुसार

चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी के अनुसार अठारह वर्ष की अवस्था तक अहमदाबाद में रहे, छह वर्ष तक मध्य प्रदेश में घूमते रहे और बाद में सांभर (राजस्थान) में आकर बस गये। यदि दादू का जन्म अहमदाबाद में ही हुआ था, तो वे सांभर कब और क्यों आये। सांभर आने से पहले उन्होंने क्या किया था और कहाँ-कहाँ भ्रमण कर चुके थे। इसकी प्रामाणिक सूचना हमें नहीं मिलती।

जन गोपाल की 'परची' के अनुसार दादू तीस वर्ष की अवस्था में सांभर में आकर रहने लगे थे। सांभर निवास के दिनों के बाद की उनकी गतिविधियों की थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है। सांभर के बाद वह कुछ दिनों तक आमेर में (जयपुर के निकट) रहे। यहाँ पर अभी भी एक 'दादू द्वारा' बना हुआ है।

कुछ लोगों का कहना है, दादू ने फतेहपुर सीकरी में अकबर से भेंट की थी और चालीस दिनों तक आध्यात्मिक विषयों की चर्चा भी करते रहे थे। यद्यपि ऐतिहासिक दस्तावेजों में यह जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह अनुमान का विषय है। वैसे अकबर ने उस युग के अनेक धार्मिक भक्तों और संतों से विचार-विमर्श किया था। कई हिन्दू संत भी उनसे मिलने गये थे। सम्भव है उनमें दादू भी एक रहे हों और अपने जीवन काल में इतने प्रसिद्ध न होने के कारण उनकी ओर ध्यान केन्द्रित न किए गया हो। अन्य संतों की तरह दादू दयाल ने भी काफी देश-भ्रमण किए था। विशेषकर उत्तर भारत, काशी), बिहार, बंगाल और राजस्थान के भीतरी भागों में लम्बी यात्राएँ की थीं। अन्त में, ये नराणा, राजस्थान में रहने लगे, जहाँ उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

जन्म

संत कवि दादू दयाल का जन्म फागुन सुदी आठ बृहस्पतिवार संवत् 1601 (सन् 1544 ई.) को हुआ था। दादू दयाल का जन्म भारत के राज्य गुजरात के अहमदाबाद शहर में हुआ था, पर दादू के जन्म स्थान के बारे में विद्वान् एकमत नहीं है। दादू पंथी लोगों का विचार है कि वह एक छोटे से बालक के रूप में (अहमदाबाद के निकट) साबरमती नदी में बहते हुए पाये गये। दादू दयाल का जन्म अहमदाबाद में हुआ था या नहीं, इसकी प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने के साधन अब हमारे पास नहीं हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि उनके जीवन का बड़ा भाग राजस्थान में बीता।

पारिवारिक जीवन

उनके परिवार का संबंध राजदरबार से नहीं था। तत्कालीन इतिहास लेखकों और संग्रहकर्त्ताओं की दृष्टि में इतिहास के केंद्र राजघराने ही हुआ करते थे। दादू दयाल के माता-पिता कौन थे और उनकी जाति क्या थी। इस विषय पर भी विद्वानों में मतभेद है। प्रामाणिक जानकारी के अभाव में ये मतभेद अनुमान के आधार पर बने हुए हैं। उनके निवारण के साधन अनुपलब्ध हैं। एक किंवदंती के अनुसार, कबीर की भाँति दादू भी किसी कवाँरी ब्राह्मणी की अवैध सन्तान थे, जिसने बदनामी के भय से दादू को साबरमती नदी में प्रवाहित कर दिया। बाद में, इनका लालन-पालन एक धुनिया परिवार में हुआ। इनका लालन-पालन लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण ने किया। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

के मतानुसार इनकी माता का नाम बसी बाई था और वह ब्राह्मणी थी। यह किंवदंती कितनी प्रामाणिक है और किस समय से प्रचलित हुई है, इसकी कोई जानकारी नहीं है। सम्भव है, इसे बाद में गढ़ लिया गया हो। दादू के शिष्य रज्जब ने लिखा है–

धुनी ग्रभे उत्पन्नो दादू योगन्द्रो महामुनिः।
उतृम जोग धारनं, तस्मात् क्यं न्यानि कारणम्।।

पिंजारा रुई धुनने वाली जाति-विशेष है, इसलिए इसे धुनिया भी कहा जाता है। आचार्य क्षितिजमोहन सेन ने इनका संबंध बंगाल से बताया है। उनके अनुसार, दादू मुसलमान थे और उनका असली नाम 'दाऊद' था। दादू दयाल के जीवन की जानकारी दादू पंथी राघोदास 'भक्तमाल' और दादू के शिष्य जनगोपाल द्वारा रचित 'श्री दादू जन्म लीला परची' में मिलता है। इसके अलावा दादू की रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य के माध्यम से भी, हम उनके जीवन और व्यक्तित्व के बारे में अनुमान लगा सकते हैं।

हिन्दू समाज में परम्परागत रूप से व्यक्ति का परिचय उसके कुल और उसकी जाति से दिया जाता रहा है। जात-पात की व्यवस्था मध्य काल में बहुत सुदृढ़ थी। अधिकांश निर्गुण संत कवि नीची समझी जाने वाली जातियों में हुए थे और वे जात-पात की व्यवस्था के विरोधी थे, लेकिन उनके अपमान का अभिजात समाज जात-पात का कट्टर समर्थक था। इस क्रूर यथार्थ को संत कवि जानते थे। फिर भी, उनके मन में अपनी जाति संबंधी कोई हीन भावना नहीं थी। अतः उन्होंने न तो अपनी जाति को छिपाया और न इसे चरम सत्य मानकर ही पूजते रहे। कई बार स्वयं इनके जिज्ञासु भक्त भी यह पूछ ही लेते थे कि महाराज, आपकी जाति क्या है।

ऐसे जिज्ञासु भक्तों को संबोधित करते हुए दादू ने लिखा–

दादू कुल हमारे केसवा, सगात सिरजनहार।
जाति हमारी जगतगुर, परमेश्वर परिवार।।
दादू एक सगा संसार में, जिन हम सिरंजे सोइ।।
मनसा बाचा क्रमनां, और न दूजा कोई।।

यहाँ दादू ने अपनी विचार प्रणाली को व्यक्त करते हुए कहा है कि मेरे सच्चे संबंध तो ईश्वर से हैं। और इसी संबंध से मेरा परिचय है। परिवार में अपने-पराये की भावना आ जाती है। दादू इसे संसार की 'माया' और संसार

के 'मोह' की संज्ञा देते हैं। दादू अपने आपको इनसे मुक्त कर चुके थे, वह संसार में रहते हुए भी सांसारिक बंधनों को काट चुके थे। अत: निरर्थक जात-पात की लौकिक भाषा में अपना वास्तविक परिचय कैसे देते।

फिर भी, कई स्थानों पर उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है कि वे एक पिंजारा हैं। एक पद में उन्होंने लिखा है–

कौण आदमी कमीण विचारा, किसकौं पूजै गरीब पिंजारा।। टेक
मैं जन येक अनेक पसारा, भौजिल भरिया अधिक अपारा।।
एक होइ तौ कहि समिझाऊँ, अनेक अरुझै क्यौं सुरझाउं।।
मैं हौं निबल सबल ए सारे, क्यौं करि पूजौं बहुत पसारे।।
पीव पुकारौ समझत नाही, दादू देषि दिसि जाही।।

दादू ने इस पद में अपने आपको 'कमीण' कहकर पुकारा है। यह उन्होंने नम्रतावश ही नहीं कहा है, बल्कि सवर्णों द्वारा नीची समझी जाने वाली जातियों के व्यक्तियों को पुकारे जाने वाले नाम को प्रकट किया है और प्रकारान्तर से सवर्णों की समझ की अपज्ञापूर्वक निन्दा भी कर दी है।

दादू ने एक और पद में कहा है–

तहाँ मुझ कमीन की कौन चलावै।
जाका अजहूँ मुनि जन महल न पावै।। टेक
स्यौ विरंचि नारद मुनि गाबे, कौन भाँति करि निकटि बुलावै।।
देवा सकल तेतीसौ कोडि, रहे दरबार ठाड़े कर जोड़ि।।
सिध साधक रहे ल्यौ लाई, अजहूँ मोटे महल न पाइ।।
सवतैं नीच मैं नांव न जांनां, कहै दादू क्यों मिले सयाना।।

इस पद में सामाजिक संवेदना और आध्यात्मिक अनुभव का मिश्रण हुआ है। दादू ईश्वर से मिलना चाहता है, लेकिन यह समाज बाधक बना हुआ है। ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हों भी तो क्या होता है। समाज तो मुझे सबसे नीच और कमीन कहकर ही पुकारता है। यहाँ ईश्वर से न मिल पाने की निराशा के साथ-साथ सामाजिक अन्याय से आहत हृदय का दर्द भी अभिव्यक्त हो गया है। इस अन्त: साक्ष्य के आधार पर नि:संकोच रूप से यह कहा जा सकता है कि दादू पिंजारा थे। ब्राह्मण सिद्ध करने वाली किंवदंतियों का जन्म बाद में हुआ। वह मुसलमान थे या नहीं, या उन्होंने इस्लाम में नयी-नयी दीक्षा ले ली थी, जिसके कारण उनमें कुछ हिन्दू संस्कार बच गए थे, पर वह थे मुसलमान ही। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। सम्भव है, यह उन पर आरोप

लगाने के लिए कहा जाता रहा हो। निर्गुण संतों की वर्णाश्रम विरोधी चेतना के प्रभाव को खत्म करने के लिए उन पर इस्लाम के प्रभाव को प्रचारित किया जाता रहा है। इस्लाम चूँकि उस युग का राज-धर्म था, अतः इनको भी तत्कालीन सत्ताधारियों से जोड़कर इनके जन-आधार को संकुचित करने का प्रयास किया गया था। ऐसा अनुमान इसलिए लगाया जा सकता है, क्योंकि यही आरोप कबीर पर भी लगाया गया था। उन्होंने अपनी रचनाओं में हिन्दू और तुर्क दोनों के मार्गों को गलत बताया है। उनके शिष्य हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। फिर भी, उनके इस्लाम में दीक्षित हो जाने का कोई तर्क-सम्मत कारण नहीं दिखायी देता।

दादू की पत्नी कौन थी, और उसका क्या नाम था, इसकी प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। इनके गरीबदास और मिस्कीनदास नामक दो पुत्र और नानीबाई तथा माताबाई नाम की दो पुत्रियाँ थीं। कुछ विद्वान् इस बात से असहमत हैं। उनके अनुसार ये उनके वरद पुत्र थे। कुछ लोगों के अनुसार ये उनके शिष्य थे। जनगोपाल के अनुसार दादू तीस वर्ष की अवस्था में सांभर में बस गये और दो वर्ष के बाद, उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास का जन्म हुआ।

दादू के गुरु

दादू ने अपनी वाणी में गुरु की महिमा का गान तो बहुत किया है, लेकिन उनका कहीं नाम नहीं लिया है, जिनके ज्ञान के प्रभाव से दादू का व्यक्तित्व लौकिक बाधा-बंधनों को काट सका। दादू ने अपनी रचनाओं में गुरु की महिमा का विस्तार से बखान किया है। अतः यह जानना भी हमारे लिए आवश्यक है कि इनके गुरु कौन थे। लेकिन इस तथ्य की प्रमाणिक जानकारी अनुपलब्ध है। जन गोपाल की 'श्री दादू जन्म लीला परची' के अनुसार ग्यारह वर्ष की अवस्था में भगवान ने एक बुद्ध के रूप में दर्शन देकर इनसे एक पैसा माँगा। फिर इनसे प्रसन्न होकर इनके सिर पर हाथ रखा और इनके सारे शरीर का स्पर्श करते हुए इनके मुख में 'सरस पान' भी दिया। दादू पंथियों के अनुसार बुड्ढन नामक एक अज्ञात संत इनके गुरु थे। जन गोपाल के अनुसार बचपन के ग्यारह वर्ष बीत जाने के बाद, इन्हें बुड्ढे के रूप में गुरु के दर्शन हुए।

वे साक्षर थे या नहीं, इसके बारे में अब भी संदेह बना हुआ है। इनके गुरु, जो अब तक अज्ञात हैं, यदि वे थोड़े बहुत साक्षर रहे भी हों तो भी इतना

निश्चित है कि इन्होंने धर्म और दर्शन का अध्ययन नहीं किया था। उनकी रचनाओं का वस्तुगत विश्लेषण इसकी पुष्टि नहीं करता कि उन्होंने धर्म का शास्त्रीय अध्ययन किया था। अन्य निर्गुण संतों की तरह इन्हें भी सत्संग से धर्म-आध्यात्म का ज्ञान मिला था। उन्होंने लिखा है–

हरि केवल एक अधारा, सो तारण तिरण हमारा।। टेक
ना मैं पंडित पढ़ि गुनि जानौ, ना कुछ ग्यान विचारा।।
ना मैं आगम जोंतिग जांनौ, ना मुझ रूप सिंगारा।।

यहाँ पढ़-लिखकर पंडित होने का तात्पर्य शास्त्रीय विद्या से लिया जा सकता है। मध्य युग में यह सुविधा सिर्फ सवर्णों को मिली हुई थी। यहाँ एक तरफ तो उन तथाकथित सवर्णों की स्थिति पर व्यंग्य किया गया है। दूसरी तरफ शास्त्रीय ज्ञान के अभाव की कसक को भी संप्रेषित किया गया है। धर्म-शास्त्रों के शास्त्रज्ञों ने निश्चय ही उनके ज्ञान को चुनौती दी थी और दादू जैसे शांत स्वभाव के संत ने इस कमी को स्वीकार कर लिया–

आगम मो पै जाण्यौ न जाइ, इहै विमासनि जियड़े माहि।।

यह भी एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि अपनी रचनाओं का संग्रह स्वयं दादू दयाल ने नहीं, बल्कि उनके शिष्यों ने किया था। इससे भी यह संदेह पुष्ट होता है कि शायद दादू साक्षर नहीं थे। भक्तिकाल के इन निर्गुण संतों की बड़ी विशेषता यह भी थी कि इनमें से अधिकांश संत गृहस्थ थे। वे सांसारिक मोह-माया को त्यागने का उपदेश देते थे, लेकिन संसार के त्याग का नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि संसार में रहते हुए भी संसार से ऊपर उठा जाए। संसार का बहिष्कार करने वाले तो कायर होते हैं। उन्हें मुक्ति कैसे मिल सकती है। सांभर से ही दादू दयाल की भक्ति-साधना आरम्भ होती है। यहीं से उन्होंने उपदेश देने शुरू किए थे और यहीं पर उन्होंने 'पर ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की थी। जो दादू की मृत्यु के बाद 'दादू पंथ' कहा जाने लगा। दादू ने अपनी रचनाओं में अपने परिवार और पारिवारिक स्थिति का जिक्र किया है। उन्होंने लिखा है–

दादू रोजी राम है, राजिक रिजक हमार।
दादू उस परसाद सौं, पोष्या सब परिवार।।
दादू साहिब मेरे कपड़े, साहिब मेरा पाण।
साहिब सिर का नाज है, साहिब प्यंड परांण।।

सांई सत संतोष दे, भाव भगति बेसास।
सिदक सबूरी साच दे, माँगै दादू दास।।

ऐसा लगता है कि किसी जिज्ञासु व्यक्ति ने दादू से सीधा सवाल पूछा था कि आपका खाना-पीना कैसे चलता है। आप अपने परिवार का भरण-पोषण कैसे करते हैं। अर्थात् आपकी आय के साधन क्या हैं। यहाँ तो चारों तरफ अभाव ही अभाव दिखाई दे रहा है। इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए दादू ने कहा कि राम ही मेरा रोजगार है, वही मेरी सम्पत्ति है, उसी राम के प्रसाद से परिवार का पोषण हो रहा है। इन पंक्तियों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि यहाँ पर ऐश्वर्य का बोलबाला नहीं, गरीबी का साम्राज्य है। यह बात यहाँ रेखांकित करने के लायक है कि दादू को अपनी गरीबी से कोई शिकायत नहीं है। इसे सहज जीवन स्थिति मानकर उन्होंने स्वीकार कर लिया है। गरीबी की पीड़ा का बोध और उससे उत्पन्न आक्रोश दादू की रचनाओं में कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ कवि राम पर निर्भर है, क्योंकि लौकिक स्थिति अनिश्चित है। जिसे ईश्वर ने माँ के गर्भ में बच्चे के लिए नौ महीने तक भोजन पहुँचा दिया है और जिसने जठराग्नि के बीच उसकी कोमल काया को बचाए रखा है, वह राम न कभी इतना निर्दयी हो सकता है और न इतना अशक्त ही कि वह व्यक्ति को इस संसार में भूख से मार डाले। अतः मनुष्य को खाने-पीने की अभाव की हाय-तौबा नहीं मचानी चाहिए। दादू के अनुसार अपने व्यक्तिगत जीवन की चिन्ता मनुष्य को नहीं करनी चाहिए, स्वयं राम अपने आप मनुष्य की चिनता करता है और करेगा। दादू ने एक साखी में कहा है–

दादू हूंणा था सो होइ रह् या, और न होवै आइ।
लेणा था सो ले रह् या, और न लीया जाइ।।

दादू की इन पंक्तियों में सामाजिक जीवन भी व्यक्त हो गया है। इससे तत्कालीन राज्य व्यवस्था में जनता की अशक्ति प्रकट होती है। वह मानते हैं कि अपनी चिन्ता स्वयं करने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इसका फल हानिकारक है। अतः दादू कहते हैं कि आदमी को अनुत्पादक चिन्ता नहीं करनी चाहिये। उस युग के भक्तों और संतों ने यह अनुभवपरक निष्कर्ष निकाला था कि आदमी को अपने भोजन-पानी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह तो मिल ही जायेगा। इससे अधिक सम्पत्ति संचित करने की इच्छा मनुष्य को निरन्तर कष्ट देती है। वह सम्पत्ति संचय तो नहीं कर पाता, उल्टे अपने भोजन से ही हाथ धो बैठता है। अतः संतोष धारण करके आदमी को राम का

नाम लेते रहना चाहिए। अपने समय के समाज का सर्वेक्षण करते हुए दादू ने कहा है–

दादू सब जग नीधना, धनवंता नहीं कोई।
सो धनवंता जाणिय, जाकै राम पदारथ होई।।

इसी सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए संत कवि मूलकदास ने कहा था कि अजगर किसी कि चाकरी नहीं करता और पक्षी कोई भी काम नहीं करते। फिर भी उनको आहार तो मिलता ही है। सब जीवों के दाता राम हैं। अतः मनुष्य को खाने-पीने के लिए अपनी आत्मा को गिरवी नहीं रखना चाहिये।

निर्गुण संत

दादू दयाल ने अपने पूर्ववर्ती निर्गुण संतों का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। विशेष रूप से उन्होंने नामदेव, कबीर और रैदास के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट की है। कबीर तो दादू के आदर्श थे। उन्होंने एक पद में लिखा–

अंमृत रांम रसाइण पीया, ताथैं अमर कबीरा कीया।।
रांम रांम कहि रांम समांनां, जन रैदास मिले भगवाना।।

अर्थात् कबीर ने राम रस का पान किया था, इससे वह अमर हो गये। जन रैदास राम का नाम लेकर राम के समान हो गये। उनके पदों और साखियों का प्रभाव दादू-वाणी पर स्पष्ट देखा जा सकता है। कई साखियाँ तो थोड़ी बहुत हेर-फेर के बाद कबीर और दादू दोनों के नाम से प्रचलित हैं। कबीर की रचनाओं पर भी पूर्ववर्ति नाथों और सिद्धों की रचनाओं का बहुत गहरा असर पड़ा है। अतः इनके साहित्य को देखकर यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनका कौन-सा पद मौलिक है और कौन-सा नहीं।

दादू के शिष्य

दादू के जीवन काल में ही उनके अनेक शिष्य बन चुके थे। उन्हें एक सूत्र में बाँधने के विचार से एक पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना होनी चाहिए, यह विचार स्वयं दादू के मन में आ गया था। और इसलिए उन्होंने सांभर में 'पर ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना कर दी थी। दादू की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने इस सम्प्रदाय को 'दादू पंथ' कहना शुरू कर दिया। आरम्भ में इनके कुल एक

सौ बावन शिष्य माने जाते रहे। इनमें से एक सौ शिष्य (बीतरागी) थे और भगवत भजन में ही लगे रहे। बावन शिष्यों ने एकांत भगवत-चिन्तन के साथ लोक में ज्ञान के प्रचार-प्रसार का संगठनात्मक कार्य करना भी आवश्यक समझा। इन बावन शिष्यों के थांभे प्रचलित हुए। इनके थांभे अब भी अधिकतर राजस्थान, पंजाब व हरियाणा में हैं। इस क्षेत्र में अनेक स्थानो पर दादू-द्वारों की स्थापना की गई थी। उनके शिष्यों में गरीबदास, बधना, रज्जब, सुन्दरदास, जनगोपाल आदि प्रसिद्ध हुए। इनमें से अधिकतर संतों ने अपनी मौलिक रचनाएँ भी प्रस्तुत की थीं।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है–

दादू दयाल जी के देहान्त हो जाने के लगभग सौ वर्षों के अन्दर दादू पंथ के अनुयायियों की विचारधारा, वेष भूषा, रहन-सहन तथा उपासना प्रणाली में क्रमशः न्यूनाधिक परिवर्तन आरम्भ हो गया और यह बात प्रधान केन्द्र तक में दीख पड़ने लगी। नराणा के महन्तों का जैतराम जी (सं. 1750-1789) से अविवाहित रहा करना आवश्यक हो गया, दादू वाणी को उच्च स्थान पर पधारकर उसका पूजन आरम्भ हो गया। विधिवत आरती एवं भजनों का गान होने लगा, स्वर्गीय सदगुरु के प्रति परमात्मवाद भाव प्रदर्शित किया जाने लगा तथा साम्प्रदायिकता के भाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गयी। जब तक दादू दयाल जी के रज्जब जी, सुन्दरदास जी, बनवारीदास जी जैसे शिष्य जीवित रहे उनकी मूल बातों की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट रहा, किन्तु इनके भी मर जाने पर जब पृथक-पृथक् थांभों की प्रतिष्ठा हो चली और उक्त विचार धारा का दूर-दूर तक प्रचार हो चला तो, कुछ स्थानीय विशेषताओं के कारण और कुछ व्यक्तिगत मतभेदों के भी आ जाने से, उपसम्प्रदायों तक की सृष्टि आरम्भ हो गयी। दादू मत का मौलिक सार्वभौमरूप क्रमशः तिरोहित-सा होता चला गया और उसकी जगह एक न्यूनाधिक 'हिन्दू धर्म प्रभावित पंथ' निर्मित हो गया।

दादू दयाल के विरोधी

दादू दयाल के जहाँ इतने शिष्य और समर्थक थे, वहाँ उनके विरोधी और निंदक भी कम नहीं थे। दादू दयाल अपने निंदकों को जानते थे। इसलिए एक पद में उन पर हल्का-सा व्यंग्य किया है। उसमें दादू ने कहा है कि निंदक तो मुझे भाई के समान प्रिय हैं, जो करोड़ों कर्मों के बंधन को काटता है, जो स्वयं

भवसागर में डूबकर भी दूसरे को बचा लेता है। वह उनको युगों तक जीवित रहने का आशीर्वाद भी देते हैं–

न्यंदक वावा बीर हमारा, बिन ही कौड़े वहे विचारा।। टेक
करम कोटि के कुसमल काटै, काज सवारे बिनही साटे।।
आपण बूड़ै और कौं तारै, ऐसा प्रीतम पार उतारे।।
जुगि जुगि जीवे निंदक मोरा, रामदेव तुम करौं निहोरा।।
न्यंदक बपुरा पर उपगारी, नादू न्यंद्या करें हमारी।।

दूसरी ओर दादू ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है कि वे परनिंदा न किया करें, क्योंकि निंदा तो वह व्यक्ति करता है, जिनके हृदय में राम का निवास नहीं है। दादू को बड़ा आश्चर्य होता है कि लोग कैसे नि:संकोच रूप से दूसरे की निंदा कर देते हैं।

न्यंदत सब लोग विचारा, हमकौं भावे राम पियारा।।
नरसंसै न्रिदोष रहताजे, तासनि कहत गये रे ये।।
निरवैरी निहकामी साध, तासिरि देत बहुत अपराध।।
लोहा कंचन एक समान, तासनि कहैं करत अभिमान।।
न्यंदा स्तुति एक करि तौले, तासौं कहैं अपवाद हि बोलें।।
दादू निंदा ताकौं भावैं, जाकै हिरदे राम न आवैं।।

दादू की रचनाओं का वस्तुगत अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें वाद-विवाद की प्रवृत्ति कम थी। उन्होंने खण्डन कम और मण्डन अधिक किया है। इससे लगता है कि उनका विरोध या तो उनकी अनुपस्थिति में होता था, जिसकी जानकारी उन्हें बाद में मिलती थी या वह स्वयं इतने शान्त स्वभाव के थे कि किसी विवाद में उलझे ही नहीं। निंदा-स्तुति को उन्होंने समभाव से ग्रहण कर लिया था। जो भी हो, उन्होंने अपने विरोधियों से बहस कम की है और समर्थकों को सलाह ज्यादा दी है।

प्रमुख उपसम्प्रदाय

कालान्तर में दादू पंथ के पाँच प्रमुख उपसम्प्रदाय निर्मित हुए –

खालसा
विरक्त तपस्वी
उतराधें या स्थानधारी
खाकी
नागा

इनके मानने वाले अलग-अलग स्थानों पर मिलते हैं। इनमें आपस में थोड़ी बहुत मत भिन्नता भी पायी जाती है, लेकिन सब उपसम्प्रदायों में दादू के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। संत दादू दयाल के विभिन्न स्मारकों का उल्लेख करते हुए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है-

संत दादू दयाल के स्मारक रूप विशिष्ट स्थानों में सर्वप्रथम स्थान करडाला व कल्याणपुर प्रसिद्ध है। जहाँ उन्होंने पहली बार काफी समय तक साधना की थी। इस बात का परिचय दिलाने के लिए वहाँ उनकी एक 'भजन शिला, वर्तमान है। वहाँ पर पहाड़ी के नीचे की ओर एक दादू द्वारा भी बना दिया गया है जिसे, उसी कारण महत्त्व दिया जाता है। करडाला के अतिरिक्त सांभर में भी दादू जी की एक छतरी बनी हुई है। जो उनके रहने की पुरानी कुटिया का प्रतिनिधित्व करती है और पीछे वहाँ पर एक विशाल मन्दिर भी बना दिया गया है। सांभर के अनन्तर अधिक समय तक उनके निवास करने का स्थान आमेर समझा जाता है, जहाँ पर एक सुन्दर दादू द्वारा निर्मित है, परन्तु इन सभी से अधिक महत्त्व नराणे को दिया जाता है, जहाँ पर अभी तक वह खेजड़े का वृक्ष भी दिखलाया जाता है, जहाँ पर वे बैठा करते थे। उसी के समीप एक 'भजनशाला' है, तथा एक विशाल मन्दिर भी बना हुआ है। यहाँ का दादू द्वारा सर्वप्रथम माना जाता है। दादू जी का शव, जहाँ उनका देहान्त हो जाने पर, डाल दिया गया था, वह भराणे का स्थान भी उनके अन्तिम स्मारक के रूप में वर्तमान है। वहाँ पर भी एक चबूतरा बना दिया गया है और पूरा स्थान 'दादू खोल' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। कहते हैं कि यहीं कहीं पर उनके कुछ बाल, तूँबा, चोला तथा खड़ाऊँ भी अभी तक सुरक्षित है। कल्याणपुर, सांभर, आमेर, नराणा व भैराणा 'पंचतीर्थ' भी माने जाते हैं।

उनके स्मारक के रूप में दो मेले भी लगा करते हैं। इनमें से एक नराणे में प्रति वर्ष फागुन सुदी पाँच से लेकर एकादशी तक लगा करता है। जिनमें प्रायः सभी स्थानों के दादू पंथी इकट्ठे होते हैं। दूसरा मेला भैराणे में फागुन कृष्ण तीन से फागुन सुदी तीन तक चलता रहता है।

दादू की रचनाएँ

साखी
पद्य
हरडेवानी
अंगवधू

दादू ने कई साखी और पद्य लिखे है। दादू की रचनाओं का संग्रह उनके दो शिष्यों संतदास और जगनदास ने 'हरडेवानी' नाम से किया था। कालांतर में रज्जब ने इसका सम्पादन 'अंगवधू' नाम से किया। दादू की कविता जन सामान्य को ध्यान में रखकर लिखी गई है, अतएव सरल एवं सहज है। दादू भी कबीर की तरह अनुभव को ही प्रमाण मानते थे। दादू की रचनाओं में भगवान के प्रति प्रेम और व्याकुलता का भाव है। कबीर की तरह उन्होंने भी निर्गुण निराकार भगवान को वैयक्तिक भावनाओं का विषय बनाया है। उनकी रचनाओं में इस्लामी साधना के शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी से प्रभावित हिन्दी है। इसमें अरबी-फारसी के काफी शब्द आए हैं, फिर भी वह सहज और सुगम है।

6

रैदास के साहित्य में बिंब योजना

मध्यकालीन भारत के संतों में एक खास बात यह देखी जाती है कि उन्होंने स्वयं श्रम करते हुए अपना गुजारा किया। लगभग सभी संतों ने अपना पेशा आजीवन जारी रखा। कबीर कपड़ा बुनते रहे, संत सैन ने नाई का पेशा बरकरार रखा, नामदेव ने कपड़े पर छपाई जारी रखी, दादू दयाल ने रुई धुनने का काम नहीं छोड़ा और गुरु नानक ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष खेती करते हुए ही बिताए। लेकिन इन सबमें रैदास का पेशा एकदम जुदा था। वे मोची थे। जूते बनाते थे और उसकी मरम्मत भी करते थे। समाज की भाषा में उनकी जाति कथित 'चमार' की थी। लेकिन राम और गोविंद की लगन ऐसी लगी थी कि रैदास नाम ही 'भक्त' का पर्याय बनता जा रहा था। इतना तक कि कबीर जैसे महान् संत ने भी कह दिया कि 'साधुन में रविदास संत है'।

लेकिन रैदास अपने पेशे और जाति को लेकर किसी प्रकार की आत्महीनता का शिकार न थे। उन्होंने बल्कि अपने पद, बानी और सबद में इसका कई बार उल्लेख किया। उनके समकालीनों और परवर्ती संतों ने भी उनकी जाति का भरपूर उल्लेख किया। आदि ग्रंथ अथवा गुरु ग्रंथ साहिब में संकलित रैदास जी के कुछ पदों में उनकी जाति का वर्णन इस तरह मिलता है–ऐसी मेरी जात बिखिआत चमारं, हिरदै राम गोबिंद गुन सारं। एक अन्य पद

में वह कहते हैं–हम अपराधी नीच घरि जनमे, कुटुंब लोग करै हांसी रे। कहै रैदास राम जपि रसना, काटै जम की फांसी रे।। एक पद में तो वह इतना तक कहते हैं–जाति ओछा पाती ओछा ओछा जनमु हमारा। राजा राम की सेव ना कीनी कहि रविदास चमारा।।

लेकिन संत रैदास जी के संपूर्ण भक्तिमय काव्य को देखकर इसका अंदाजा सहज ही हो जाता है कि अपनी जाति का वर्णन वह अपनी भावप्रवणता में अपने आराध्य के प्रति भक्ति-विभोर होकर ही करते हैं। न कि किसी आत्महीनता या सामाजिक द्रोहभाव के वशीभूत होकर। आत्माराम के प्रति भक्तिपूर्ण समर्पण और आत्मविवेक की चेतना के अलावा अन्य कोई भाव उनकी बानी में नहीं उतरता। 'प्रभुजी तुम चंदन हम पानी' जैसे उनके भजनों में डूबकर ऐसा लगता है, मानो उन्हें इस तरह की उपमा ढूंढ़नी नहीं पड़ती, वे उन उपमाओं में स्वयं को उसी रूप में देख रहे होते हैं और उनकी बानी में वह स्वत: व्यक्त हो जाती है।

रैदासजी की यही बालसुलभ निश्छलता, सहजता और सरलता उन्हें उनके आराध्य से ऐसे जोड़े रखती है, जैसे वे कभी उनसे अलग हों ही नहीं और इसलिए अपनी जाति की चर्चा भी वे सायास नहीं करते। वे अपने आराध्य के साथ लगातार भावपूर्ण संवाद में जब जितनी निकटता पाते हैं, जितना खुलते हैं, जितना विनम्र होते हैं, उनसे इसका जिक्र हुआ चला जाता है। एकबार तो वे गोपीवत प्रेम में डूबकर अपने कृष्ण से कहते हैं-

कहै रैदास सुनिं केसवे अंतहकरन बिचार। तुम्हारी भगति कै कारनैं फिरि ह्वै हौं चमार।।

(रैदास कहता है कि हे केशव, मेरे अंत:करण की बात सुनो। तुम्हारी भक्ति की खातिर मुझे एक बार फिर से चमार बनने दो)

तभी तो सिखों के चौथे गुरु रामदास ने कहा–साधू सरणि परै सो उबरै खत्री ब्राहमणु सूदु वैसु चंडालु चंडईआ। नामा जैदेउ कबीरु त्रिलोचनु अउजाति रविदासु चमिआरु चमईआ।। (आदि ग्रंथ, अंग-835६6) यानी साधुओं की शरण में जो जाता है। वह मुक्ति पाता है, चाहे वह क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो, शूद्र हो या वैश्य हो, या कथित अछूत से अछूत ही क्यों न हो। जैसे नामदेव, जयदेव, कबीर, त्रिलोचन और कथित नीच जाति के रविदास चमार।

और पाँचवें गुरु अर्जन देव ने तो रैदास का ईश्वर तत्व में घुलकर एकाकार ही हो जाने की महिमा का इस तरह गान किया–भलो कबीरु दासु

दासन को ऊतमु सैनु जनु नाई। ऊच ते ऊच नामदेउ समदरसी रविदास ठाकुर बणि आई।। (आदि ग्रंथ, अंग-1207/1) यानी कबीर तो भले हैं, दासों के दास हैंय विनम्र नाई सैन भी उत्तम हैं। नामदेव तो ऐसे उत्तमोत्तम हैं जिन्हें सब एक समान दिखाई देता है, और रविदास तो ईश्वर के साथ एकाकार ही हैं।

एक और भी बात हुई। कई संतों ने संत रैदास को पूर्व जन्म का ब्राह्मण माना। भक्त कवि नाभादास ने भी अपने ग्रंथ 'भक्तमाल' में रैदास जी को पिछले जन्म का ब्राह्मण घोषित किया। यह भी कहा गया कि वे चूंकि उन्होंने अपने पिछले जन्म में मांस-भक्षण किया था, इसलिए इस जन्म में उन्हें कथित 'अछूत' के घर जन्म लेना पड़ा। संत श्री गुरुदास लिखते हैं–'पूरब जन्म विप्र ही होता, मांस न छाड़यो निस दिन श्रोता। तिहि अपराधि नीच कुल दीना, पाछला जनम चीन्ही तिन लीना।।'

हालाँकि यह स्पष्ट है कि संत रैदास की सिद्धि, प्रसिद्धि और लोकप्रियता देखकर ही उन्हें पिछले जन्म का ब्राह्मण माना जाने लगा होगा। एक ऐसा समाज जो किसी समय कथित 'अछूतों' को पूजा-उपासना तो दूर पढ़ने-लिखने तक का अधिकार नहीं देता था, वही समाज एक 'अछूत' को अराध्य संत के रूप में उदारता से स्वीकार भी कर लेता है।

परवर्ती संतों ने जहां-जहां भी संतों की महिमा का गान किया है वहां रैदास की भक्ति का ऐसा चित्रण किया है मानो रैदास हमेशा अपने आराध्य में विलीन ही रहते थे। ऐसी भक्ति उनमें प्रवेश कर गयी थी कि सबको लगता मानो स्वयं रैदास ही भक्ति में प्रवेश कर गए हों। दादू दयाल एक स्थान पर कहते हैं–दादू कहां लीन शुकदेव था, कहां पीपा रैदास।। दादू साचा क्यों छिपे, सकल लोक परकास।।

और दादू के अग्रणी शिष्य रज्जब जो जन्म से मुस्लिम थे, उन्होंने रैदास के बारे में कहा–आदि जयदेव आत रैदास, भाव भक्ति कटै कर्म फास। भक्ति का जो प्रकाश रैदास को मिला वह रैदास के व्यक्तित्व में ही समा गया था। इसे रज्जब ने आगे एक स्थान पर कहा–आदि मिली जयदेव को, रैदास समानी, सो दादू घर पैठियो, क्यों रहै निमानी।

स्वयं रैदास जी एक ऐसे युग में हिन्दू-मुसलमानों को एक साथ एक ही तत्व को ईश्वर मानने की सीख देते हैं जब उनके बीच घनघोर वैमनस्यता थी और अपने धर्म के बारे में अपेक्षाकृत अधिक सतर्क मुस्लिम शासक देश पर शासन कर रहे थे। रैदास कहते हैं-

'कृष्ण-करीम, राम-हरि-राघव, जब लग एक न पेषा।
वेद-कतेब-कुरान-पुरानन सहज एक नहिं वेषा।।'

आगे लिखते हैं-

'मन्दिर मस्जिद एक है, इन मंह अंतर नाहिं।
रैदास राम रहमान का, झगड़ऊ कोऊ नाहिं।।
रैदास हमारा राम जोई, सोई है रहमान।
काबा कासी जानि यहि, दोऊ एक समान।।'

एक स्थान पर तो हिन्दू और मुसलमानों की तुलना 'कनक' और 'कंगन' से करते हुए कहते हैं-

'रैदास कंगन और कनक महिं, जिमि अंतर कछु नाहिं।
तैसउ ही अंतर नहीं, हिन्दुअन, तुरकन मांहि।।'

संत कबीर ने जब कहा होगा कि 'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान' तो कहीं न कहीं उन्होंने यह भी संदेश दिया था कि साधुता हासिल करने के बाद कोई व्यक्ति किसी जाति का नहीं रह जाता और इसलिए उन्होंने आगे भी कहा था कि साधुता हासिल करने के लिए भी तुम्हें सबसे पहले अपने जातिभाव से मुक्त होना पड़ेगा, चाहे तुम कथित ब्राह्मण हो या वैश्य। उनके शब्दों में–जाति बरन कुल खोय के, भक्ति करै चितलाय। कहैं कबीर सतगुरु मिलै, आवागमन नशाय।। और यह भी कि 'भक्ति करै कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय।'

सन् 1560 के आस-पास ओरछा में जन्म से ब्राह्मण नामधारी एक संत हुए। नाम था हरिराम व्यास। संतत्व हासिल करते ही स्वाभाविक रूप से उनकी जाति की भावना चली गई। उन हरिराम व्यास ने अपनी एक साखी में जब रैदास के बारे में लिखा तो क्या खूब लिखा–व्यास बड़ाई छाड़ि कै, हरि चरणा चित जोरि. एक भक्त रैदास पर, वारूं ब्राह्मण कोरि. जन्म से कथित ब्राह्मण हरिराम व्यास तो एक भक्त रैदास पर लाखों ब्राह्मण को वारने पर उतारू हो गए। इतना ही नहीं उन्होंने आगे भी रैदास को अपना सगा घोषित करते हुए कहा–'इतनौ है सब कुटुम हमारौ, सैन धना अरु नामा पीपा और कबीर रैदास चमारौ।'

रैदास के लिए तो आध्यात्मिक साधना के अधिकार के मामले में स्त्री-पुरुष के लिए प्रचलित भेद तक न रहा। उनके शिष्यों से अधिक तो उनकी शिष्याएं ही नामवती हुई देखी जाती हैं। किसी ने जमना रैदासिनी के बारे में

लिखा है, तो किसी ने चितौड़ की रानियों, चाहे वे रानी झाली हों या उनकी बहू मीरा बाई के साथ उनके गुरुवत् संबंधों के बारे में लिखा है। किसी ने तो परभुता नाम की एक शिष्या की भी चर्चा की है, जिन्हें कुछ लोग उनकी पत्नी भी बताते हैं।

इसलिए चाहे वे चित्तौड़ की रानियाँ हों, चाहे ओरछा का ब्राह्मण हरिराम व्यास हो, चाहे रज्जब मुसलमान हो या गुरु रामदास और गुरु अर्जन देव जैसे सिख गुरु हों, सबने एक स्वर में रैदास चमार को अपना सगा, अपना गुरु और अपने आराध्य तक की श्रेणी में रखा है। रैदास के द्वारा और रैदास के ऊपर कहे गए पदों में जन्मना जाति की चर्चा तो है, लेकिन जाति कहीं नहीं है। वहां जाति अप्रासंगिक हो चुकी है। 'एक नूर से सब जग उपजा' की भावना लिए ये सब फिर से उसी नूर से प्रकाशित हो उसमें खो जाना चाहते हैं। जिसने भी उस नूर से फिर से एकत्व हासिल कर लिया, वह बाकी जगत के लिए सार्वजनीन हो गया। उसकी पहचान का आधार उसकी जाति और उसका नाम नहीं रहा। कम से कम उसके स्वयं के लिए तो नहीं ही रहा। बाकियों के लिए भी वह केवल एक सुविधा के रूप में रहा। तभी तो एक ही रैदास के कितने नाम सबने अपनी-अपनी सुविधा से अपनाए। वह अलग-अलग नामों में भी एक और सार्वजनीन रहे।

आरंभिक जीवन

संत रविदास का जन्म भारत के यूपी के वाराणसी शहर में माता काल-सा देवी और बाबा संतोख दास जी के घर 15 वीं शताब्दी में हुआ था। हालाँकि, उनके जन्म की तारीख को लेकर विवाद भी है, क्योंकि कुछ का मानना है कि ये 1376, 1377 और कुछ का कहना है कि ये 1399 सीइ में हुआ था। कुछ अध्येता के आँकड़ों के अनुसार ऐसा अनुमान लगाया गया था कि रविदास का पूरा जीवन काल 15वीं से 16वीं शताब्दी में 1450 से 1520 के बीच तक रहा।

रविदास के पिता मल साम्राज्य के राजा नगर के सरपंच थे और खुद जूतों का व्यापार और उसकी मरम्मत का कार्य करते थे। अपने बचपन से ही रविदास बेहद बहादुर और ईश्वर के बहुत बड़े भक्त थे लेकिन बाद में उन्हें उच्च जाति के द्वारा उत्पन्न भेदभाव की वजह से बहुत संघर्ष करना पड़ा, जिसका उन्होंने सामना किया और अपने लेखन के द्वारा रविदास ने लोगों को जीवन के इस

तथ्य से अवगत करवाया। उन्होंने हमेशा लोगों को सिखाया कि अपने पड़ोसियों को बिना भेद-भेदभाव के प्यार करो।

पूरी दुनिया में भाईचारा और शांति की स्थापना के साथ ही उनके अनुयायीयों को दी गयी महान् शिक्षा को याद करने के लिये भी संत रविदास का जन्म दिवस का मनाया जाता है। अपने अध्यापन के आरंभिक दिनों में काशी में रहने वाले रुढ़ीवादी ब्राह्मणों के द्वारा उनकी प्रसिद्धि को हमेशा रोका जाता था, क्योंकि संत रविदास अस्पृश्यता के भी गुरु थे। सामाजिक व्यवस्था को खराब करने के लिये राजा के सामने लोगों द्वारा उनकी शिकायत की गयी थी। रविदास को भगवान के बारे में बात करने से, साथ ही उनका अनुसरण करने वाले लोगों को अध्यापन और सलाह देने के लिये भी प्रतिबंधित किया गया था।

रविदास की प्रारंभिक शिक्षा

बचपन में संत रविदास अपने गुरु पंडित शारदा नंद के पाठशाला गये जिनको बाद में कुछ उच्च जाति के लोगों द्वारा रोका किया गया था, वहाँ दाखिला लेने से। हालाँकि पंडित शारदा ने यह महसूस किया कि रविदास कोई सामान्य बालक न होकर एक ईश्वर के द्वारा भेजी गयी संतान है। अतः पंडित शारदानंद ने रविदास को अपनी पाठशाला में दाखिला दिया और उनकी शिक्षा की शुरुआत हुई। वो बहुत ही तेज और होनहार थे और अपने गुरु के सिखाने से ज्यादा प्राप्त करते थे। पंडित शारदा नंद उनसे और उनके व्यवहार से बहुत प्रभावित रहते थे उनका विचार था कि एक दिन रविदास आध्यात्मिक रुप से प्रबुद्ध और महान् सामाजिक सुधारक के रुप में जाने जायेंगे।

पाठशाला में पढ़ने के दौरान रविदास पंडित शारदानंद के पुत्र के मित्र बन गये। एक दिन दोनों लोग एक साथ लुका-छिपी खेल रहे थे, पहली बार रविदास जी जीते और दूसरी बार उनके मित्र की जीत हुयी। अगली बार, रविदास जी की बारी थी, लेकिन अंधेरा होने की वजह से वो लोग खेल को पूरा नहीं कर सके उसके बाद दोनों ने खेल को अगले दिन सुबह जारी रखने का फैसला किया। अगली सुबह रविदास जी तो आये, लेकिन उनके मित्र नहीं आये। वो लंबे समय तक इंतजार करने के बाद अपने उसी मित्र के घर गये और देखा कि उनके मित्र के माता-पिता और पड़ोसी रो रहे थे।

उन्होंने उन्हीं में से एक से इसका कारण पूछा और अपने मित्र की मौत की खबर सुनकर हक्का-बक्का रह गये। उसके बाद उनके गुरु ने संत रविदास को अपने बेटे के लाश के स्थान पर पहुँचाया, वहाँ पहुँचने पर रविदास ने अपने मित्र से कहा कि उठो ये सोने का समय नहीं है दोस्त, ये तो लुका-छिपी खेलने का समय है। जैसै कि जन्म से ही गुरु रविदास दैवीय शक्तियों से समृद्ध थे, रविदास के ये शब्द सुनते ही उनके मित्र फिर से जी उठे। इस आश्चर्यजनक पल को देखने के बाद उनके माता-पिता और पड़ोसी चकित रह गये।

वैवाहिक जीवन

भगवान के प्रति उनके प्यार और भक्ति की वजह से वो अपने पेशेवर पारिवारिक व्यवसाय से नहीं जुड़ पा रहे थे और ये उनके माता-पिता की चिंता का बड़ा कारण था। अपने पारिवारिक व्यवसाय से जुड़ने के लिये इनके माता-पिता ने इनका विवाह काफी कम उम्र में ही श्रीमती लोना देवी से कर दिया, जिसके बाद रविदास को पुत्र रत्न की प्रति हुई जिसका नाम विजयदास पड़ा।

शादी के बाद भी संत रविदास सांसारिक मोह की वजह से पूरी तरह से अपने पारिवारिक व्यवसाय के ऊपर ध्यान नहीं दे पा रहे थे। उनके इस व्यवहार से क्षुब्द होकर उनके पिता ने सांसारिक जीवन को निभाने के लिये बिना किसी मदद के उनको खुद से और पारिवारिक संपत्ति से अलग कर दिया। इस घटना के बाद रविदास अपने ही घर के पीछे रहने लगे और पूरी तरह से अपनी सामाजिक मामलों से जुड़ गये।

बाद का जीवन

बाद में रविदास जी भगवान राम के विभिन्न स्वरुप राम, रघुनाथ, राजा राम चन्द्र, कृष्णा, गोविन्द आदि के नामों का इस्तेमाल अपनी भावनाओं को उजागर करने के लिये करने लगे और उनके महान अनुयायी बन गये।

बेगमपुरा शहर से उनके संबंध

बिना किसी दुख के शांति और इंसानियत के साथ एक शहर के रुप में गुरु रविदास जी द्वारा बेगमपुरा शहर को बसाया गया। अपनी कविताओं को लिखने के दौरान रविदास जी द्वारा बेगमपुरा शहर को एक आदर्श के रुप में

प्रस्तुत किया गया था, जहाँ पर उन्होंने बताया कि एक ऐसा शहर जो बिना किसी दुख, दर्द या डर के और एक जमीन है जहाँ सभी लोग बिना किसी भेदभाव, गराबी और जाति अपमान के रहते है। एक ऐसी जगह जहाँ कोई शुल्क नहीं देता, कोई भय, चिंता या प्रताड़ना नहीं हो।

मीरा बाई से उनका जुड़ाव

संत रविदास जी को मीरा बाई के आध्यात्मिक गुरु के रुप में माना जाता है जो कि राजस्थान के राजा की पुत्री और चित्तौड़ की रानी थी। वो संत रविदास के अध्यापन से बेहद प्रभावित थी और उनकी बहुत बड़ी अनुयायी बनी। अपने गुरु के सम्मान में मीरा बाई ने कुछ पंक्तियाँ लिखी है-

'गुरु मिलीया रविदास जी'

वो अपने माता-पिता की एक मात्र संतान थी जो बाद में चितौड़ की रानी बनी। मीरा बाई ने बचपन में ही अपनी माँ को खो दिया जिसके बाद वो अपने दादा जी के संरक्षण में आ गयी, जो कि रविदास जी के अनुयायी थे। वो अपने दादा जी के साथ कई बार गुरु रविदास से मिली और उनसे काफी प्रभावित हुयी। अपने विवाह के बाद, उन्हें और उनके पति को गुरु जी से आशीर्वाद प्राप्त हुआ। बाद में मीराबाई ने अपने पति और ससुराल पक्ष के लोगों की सहमति से गुरु जी को अपने वास्तविक गुरु के रुप में स्वीकार किया। इसके बाद उन्होंने गुरु जी के सभी धर्मों के उपदेशों को सुनना शुरु कर दिया जिसने उनके ऊपर गहरा प्रभाव छोड़ा और वो प्रभु भक्ति की ओर आकर्षित हो गई। कृष्ण प्रेम में डूबी मीराबाई भक्ति गीत गाने लगी और दैवीय शक्ति का गुणगान करने लगी।

अपने गीतों में वो कुछ इस तरह कहती थी-
'गुरु मिलीया रविदास जी दीनी ज्ञान की गुटकी,
चोट लगी निजनाम हरी की महारे हिवरे खटकी'।

दिनों-दिन वो ध्यान की ओर आकर्षित हो रही थी और वो अब संतों के साथ रहने लगी थी। उनके पति की मृत्यु के बाद उनके देवर और ससुराल के लोग उन्हें देखने आये, लेकिन वो उन लोगों के सामने बिल्कुल भी व्यग्र और नरम नहीं पड़ी, बल्कि उन्हें तो आधी रात को उन लोगों के द्वारा गंभीरी नदी में फेंक दिया गया था, लेकिन गुरु रविदास जी के आशीर्वाद से वो बच गयी।

एक बार अपने देवर के द्वारा दिये गये जहरीले दूध को गुरु जी द्वारा अमृत मान कर पी गयी और खुद को धन्य समझा। उन्होंने कहा कि–

'विष को प्याला राना जी मिलाय द्यो
मेरथानी ने पाये
कर चरणामित् पी गयी रे,
गुण गोविन्द गाये'।

व्यक्तित्व

रैदास के समय में स्वामी रामानन्द काशी के बहुत प्रसिद्ध प्रतिष्ठित सन्त थे। रैदास उनकी शिष्य-मण्डली के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। प्रारम्भ में ही रैदास बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरों की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु-सन्तों की सहायता करने में उनको विशेष सुख का अनुभव होता था। वह उन्हें प्राय: मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके स्वभाव के कारण उनके माता-पिता उनसे अप्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रैदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से अलग कर दिया। रैदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग झोपड़ी बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करते थे और शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे। कहते हैं, ये अनपढ़ थे, किंतु संत-साहित्य के ग्रंथों और गुरु-ग्रंथ साहब में इनके पद पाए जाते हैं।

वचनबद्धता

उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से समय तथा वचन के पालन संबंधी उनके गुणों का ज्ञान मिलता है। एक बार एक पर्व के अवसर पर पड़ोस के लोग गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे। रैदास के शिष्यों में से एक ने उनसे भी चलने का आग्रह किया तो वे बोले, 'गंगा-स्नान के लिए मैं अवश्य चलता, किन्तु एक व्यक्ति को आज ही जूते बनाकर देने का मैंने वचन दे रखा है। यदि आज मैं जूते नहीं दे सका तो वचन भंग होगा। गंगा स्नान के लिए जाने पर मन यहाँ लगा रहेगा तो पुण्य कैसे प्राप्त होगा? मन जो काम करने के लिए अन्त:करण से तैयार हो वही काम करना उचित है। मन सही है तो इस कठौती के जल में ही गंगास्नान का पुण्य प्राप्त हो सकता है।' कहा जाता है कि इस

प्रकार के व्यवहार के बाद से ही कहावत प्रचलित हो गयी कि–'मन चंगा तो कठौती में गंगा।'

शिक्षा

रैदास ने ऊँच-नीच की भावना तथा ईश्वर-भक्ति के नाम पर किये जाने वाले विवाद को सारहीन तथा निरर्थक बताया और सबको परस्पर मिल जुल कर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश दिया। वे स्वयं मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना करते थे और उन्हें भाव-विभोर होकर सुनाते थे। उनका विश्वास था कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है।

'कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा।
वेद कतेब कछुरान, पुरानन, सहज एक नहिं देखा॥'

उनका विश्वास था कि ईश्वर की भक्ति के लिए सदाचार, परहित–भावना तथा सदव्यवहार का पालन करना अत्यावश्यक है। अभिमान त्याग कर दूसरों के साथ व्यवहार करने और विनम्रता तथा शिष्टता के गुणों का विकास करने पर उन्होंने बहुत बल दिया। अपने एक भजन में उन्होंने कहा है–

'कह रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै।
तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हवै चुनि खावै।'

उनके विचारों का आशय यही है कि ईश्वर की भक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अभिमान शून्य रहकर काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल रहता है जैसे कि विशालकाय हाथी शक्कर के कणों को चुनने में असमर्थ रहता है, जबकि लघु शरीर की 'पिपीलिका' इन कणों को सरलतापूर्वक चुन लेती है। इसी प्रकार अभिमान तथा बड़प्पन का भाव त्याग कर विनम्रतापूर्वक आचरण करने वाला मनुष्य ही ईश्वर का भक्त हो सकता है।

सत्संग

शैशवावस्था से ही सत्संग के प्रति उनमें तीव्र अभिरुचि थी। अतः रामजानकी की मूर्ति बनाकर पूजन करने लगे थे। पिता ने किसी कारणवश उन्हें अपने से अलग कर दिया था और वे घर के पिछवाड़े छप्पर डालकर रहने लगे। ये परम संतोषी और उदार व्यक्ति थे। वे अपने बनाए हुए जूते बहुधा साधु-सन्तो में बांट दिया करते थे। इनकी विरक्ति के संबंध में एक प्रसंग मिलता है कि

एक बार किसी महात्मा ने उन्हे 'पारस' पत्थर दिया जिसका उपयोग भी उसने बता दिया। पहले तो सन्त रैदास ने उसे लेना ही अस्वीकार कर दिया, किन्तु बार–बार आग्रह करने पर उन्होंने ग्रहण कर लिया और अपने छप्पर में खोंस देने के लिये कहा। तेरह दिन के बाद लौटकर उक्त साधु ने जब पारस पत्थर के बारे में पूछा तो संत रैदास का उत्तर था कि जहाँ रखा होगा, वहीं से उठा लो और सचमुच वह पारस पत्थर वहीं पड़ा मिला।

सत्य

सन्त रैदास ने सत्य को अनुपम और अनिवर्चनीय कहा है। वह सर्वत्र एक रस है। जिस प्रकार जल में तरंगे है उसी प्रकार सारा विश्व उसमें लक्षित होता है। वह नित्य, निराकार तथा सबके भीतर विद्यमान है। सत्य का अनुभव करने के लिये साधक को संसार के प्रति अनासक्त होना पड़ेगा। संत रैदास के अनुसार प्रेममूलक भक्ति के लिये अहंकार की निवृत्ति आवश्यक है। भक्ति और अहंकार एक साथ संभव नहीं है। जब तक साधक अपने साध्य के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण नहीं करता तब तक उसे लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

साधना

सन्त रैदास मध्ययुगीन इतिहास के संक्रमण काल में हुए थे। ब्राह्मणों की पैशाविक मनोवृत्ति से दलित और उपेक्षित पशुवत जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य थे। यह सब उनकी मानसिकता को उद्वेलित करता था। सन्त रैदास की समन्वयवादी चेतना इसी का परिणाम है। उनकी स्वानुभूतिमयी चेतना ने भारतीय समाज में जागृति का संचार किया और उनके मौलिक चिन्तन ने शोषित और उपेक्षित शूद्रो में आत्मविश्वास का संचार किया। परिणामतः वह ब्राह्मणवाद की प्रभुता के सामने साहसपूर्वक अपने अस्तित्व की घोषणा करने में सक्षम हो गए। सन्त रैदास ने मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। सन्त रैदास के मन में इस्लाम के लिए भी आस्था का समान भाव था। कबीर की वाणी में जहाँ आक्रोश की अभिव्यक्ति है, वहीं दूसरी ओर सन्त रैदास की रचनात्मक दृष्टि दोनो धर्मो को समान भाव से मानवता के मंच पर लाती है। सन्त रैदास वस्तुतः मानव धर्म के संस्थापक थे।

धर्म

वर्णाश्रम धर्म को समूल नष्ट करने का संकल्प, कुल और जाति की श्रेष्ठता की मिथ्या सिद्धि सन्त रैदास द्वारा अपनाये गए समन्वयवादी मानवधर्म का ही एक अंग है, जिसे उन्होंने मानवतावादी समाज के रूप में संकल्पित किया था। जन्म जात मत पूछिये, का जात अरू पात। रविदास पूत सभ प्रभ के कोउ नहि जात कुजात।।

भक्ति

उपनिषदों से लेकर महर्षि नारद और शाण्डिल्य ने भक्ति तत्व की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। रैदास ने भक्ति में रागात्मिका वृत्ति को ही महत्त्व दिया है। नाम मार्ग और प्रेम भक्ति उनकी अष्टांग साधना में ही है। रैदास की अष्टांग साधना पद्धति उनकी स्वतंत्र व स्वछंद चेतना का प्रवाह है। यह साधना पूर्णत: मौलिक है।

समाज पर प्रभाव

रैदास के पदचिन्ह, मेड़ता, राजस्थान

रैदास की वाणी, भक्ति की सच्ची भावना, समाज के व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत-प्रोत होती थी। इसलिए उनकी शिक्षाओं का श्रोताओं के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनके भजनों तथा उपदेशों से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती थी, जिससे उनकी शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता था और लोग स्वत: उनके अनुयायी बन जाते थे। उनकी वाणी का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनके प्रति श्रद्धालु बन गये। कहा जाता है कि मीराबाई उनकी भक्ति-भावना से बहुत प्रभावित हुई और उनकी शिष्या बन गयी थीं।

वर्णाश्र अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की।
सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की।।

रचनाएँ

रैदास अनपढ़ कहे जाते हैं। संत-मत के विभिन्न संग्रहों में उनकी रचनाएँ संकलित मिलती हैं। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों में रूप में भी उनकी रचनाएँ

मिलती हैं। रैदास की रचनाओं का एक संग्रह 'बेलवेडियर प्रेस', प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इनके बहुत से पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी संकलित मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदों की भाषा में बहुत अंतर है तथापि प्राचीनता के कारण 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहीत पदों को प्रमाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। रैदास के कुछ पदों पर अरबी और फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। रैदास के अनपढ़ और विदेशी भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे पदों की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। अत: रैदास के पदों पर अरबी-फारसी के प्रभाव का अधिक संभाव्य कारण उनका लोकप्रचलित होना ही प्रतीत होता है।

महत्त्व

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान् नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सद्व्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान् बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सन्त रैदास को अपने समय के समाज में अत्याधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। संत कवि रैदास उन महान् सन्तों में अग्रणी थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनकी रचनाओं की विशेषता लोक-वाणी का अद्भुत प्रयोग रही हैं, जिससे जनमानस पर इनका अमिट प्रभाव पड़ता है।

मधुर एवं सहज संत रैदास की वाणी ज्ञानाश्रयी होते हुए भी ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखाओं के मध्य सेतु की तरह है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी रैदास उच्च-कोटि के विरक्त संत थे। उन्होंने ज्ञान-भक्ति का ऊंचा पद प्राप्त किया था। उन्होंने समता और सदाचार पर बहुत बल दिया। वे खंडन-मंडन में विश्वास नहीं करते थे। सत्य को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना ही उनका ध्येय था। रैदास का प्रभाव आज भी भारत में दूर-दूर तक फैला हुआ है। इस मत के अनुयायी रैदासी या रविदासी कहलाते हैं।

रैदास की विचारधारा और सिद्धांतों को संत-मत की परम्परा के अनुरूप ही पाते हैं। उनका सत्यपूर्ण ज्ञान में विश्वास था। उन्होंने भक्ति के लिए परम

वैराग्य अनिवार्य माना जाता है। परम तत्त्व सत्य है, जो अनिवर्चनीय है–'यह परमतत्त्व एकरस है तथा जड़ और चेतन में समान रूप से अनुस्यूत है। वह अक्षर और अविनश्वर है और जीवात्मा के रूप में प्रत्येक जीव में अवस्थित है। संत रैदास की साधनापद्धति का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता है। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में वह प्राप्त होती है।' विवेचकों ने रैदास की साधना में 'अष्टांग' योग आदि को खोज निकाला है। संत रैदास अपने समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। कबीर ने संतनि में रविदास संत' कहकर उनका महत्त्व स्वीकार किया इसके अतिरिक्त नाभादास, प्रियादास, मीराबाई आदि ने रैदास का ससम्मान स्मरण किया है। संत रैदास ने एक पंथ भी चलाया, जो रैदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुयायी पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि में पाये जाते हैं।

7

तुलसी साहित्य में बिंब योजना

गोस्वामी तुलसीदास (1511–1623) हिंदी साहित्य के महान कवि थे। इन्हें आदि काव्य रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि का अवतार भी माना जाता है। श्रीरामचरितमानस का कथानक रामायण से लिया गया है। रामचरितमानस लोक ग्रन्थ है और इसे उत्तर भारत में बड़े भक्तिभाव से पढ़ा जाता है। इसके बाद विनय पत्रिका उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य है। महाकाव्य श्रीरामचरितमानस को विश्व के 100 सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय काव्यों में 46वाँ स्थान दिया गया।

जीवन परिचय

तुलसीदासजी का जन्म संवत 1589 को उत्तर प्रदेश (वर्तमान बाँदा जिला) के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम हुलसी था। इनका विवाह दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। अपनी पत्नी रत्नावली से अत्याधिक प्रेम के कारण तुलसी को रत्नावली की फटकार 'लाज न आई आपको दौरे आएहु नाथ' सुननी पड़ी जिससे इनका जीवन ही परिवर्तित हो गया। पत्नी के उपदेश से तुलसी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। इनके गुरु बाबा नरहरिदास थे, जिन्होंने इन्हें दीक्षा दी। इनका अधिकाँश जीवन चित्रकूट, काशी तथा अयोध्या में बीता।

तुलसी का बचपन बड़े कष्टों में बीता। माता-पिता दोनों चल बसे और इन्हें भीख मांगकर अपना पेट पालना पड़ा था। इसी बीच इनका परिचय राम-भक्त साधुओं से हुआ और इन्हें ज्ञानार्जन का अनुपम अवसर मिल गया। पत्नी के व्यंग्यबाणों से विरक्त होने की लोकप्रचलित कथा को कोई प्रमाण नहीं मिलता। तुलसी भ्रमण करते रहे और इस प्रकार समाज की तत्कालीन स्थिति से इनका सीधा संपर्क हुआ। इसी दीर्घकालीन अनुभव और अध्ययन का परिणाम तुलसी की अमूल्य कृतियाँ हैं, जो उस समय के भारतीय समाज के लिए तो उन्नायक सिद्ध हुई ही, आज भी जीवन को मर्यादित करने के लिए उतनी ही उपयोगी हैं। तुलसीदास द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या 39 बताई जाती है। इनमें रामचरित मानस, कवितावली, विनयपत्रिका, दोहावली, गीतावली, जानकीमंगल, हनुमान चालीसा, बरवै रामायण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शिष्य परम्परा

गोस्वामीजी श्रीसम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द की शिष्यपरम्परा में थे। इन्होंने समय को देखते हुए लोकभाषा में 'रामायण' लिखा। इसमें ब्याज से वर्णाश्रमधर्म, अवतारवाद, साकार उपासना, सगुणवाद, गो-ब्राह्मण रक्षा, देवादि विविध योनियों का यथोचित सम्मान एवं प्राचीन संस्कृति और वेदमार्ग का मण्डन और साथ ही उस समय के विधर्मी अत्याचारों और सामाजिक दोषों की एवं पन्थवाद की आलोचना की गयी है। गोस्वामीजी पन्थ व सम्प्रदाय चलाने के विरोधी थे। उन्होंने व्याज से भ्रातृप्रेम, स्वराज्य के सिद्धान्त, रामराज्य का आदर्श, अत्याचारों से बचने और शत्रु पर विजयी होने के उपाय सभी राजनीतिक बातें खुले शब्दों में उस कड़ी जासूसी के जमाने में भी बतलायीं, परन्तु उन्हें राज्याश्रय प्राप्त न था। लोगों ने उनको समझा नहीं। रामचरितमानस का राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो पाया। इसीलिए उन्होंने झुँझलाकर कहारू

'रामायण अनुहरत सिख, जग भई भारत रीति।
तुलसी काठहि को सुनै, कलि कुचालि पर प्रीति।'

आदर्श सन्त कवि

उनकी यह अद्‌भुत पोथी इतनी लोकप्रिय है कि मूर्ख से लेकर महापण्डित तक के हाथों में आदर से स्थान पाती है। उस समय की सारी शंक्काओं का

रामचरितमानस में उत्तर है। अकेले इस ग्रन्थ को लेकर यदि गोस्वामी तुलसीदास चाहते तो अपना अत्यन्त विशाल और शक्तिशाली सम्प्रदाय चला सकते थे। यह एक सौभाग्य की बात है कि आज यही एक ग्रन्थ है, जो साम्प्रदायिकता की सीमाओं को लाँघकर सारे देश में व्यापक और सभी मत-मतान्तरों को पूर्णतया मान्य है। सबको एक सूत्र में ग्रंथित करने का जो काम पहले शंकराचार्य स्वामी ने किया, वही अपने युग में और उसके पीछे आज भी गोस्वामी तुलसीदास ने किया। रामचरितमानस की कथा का आरम्भ ही उन शंकाओं से होता है, जो कबीरदास की साखी पर पुराने विचार वालों के मन में उठती हैं। तुलसीदासजी स्वामी रामानन्द की शिष्यपरम्परा में थे, जो रामानुजाचार्य के विशिष्टद्वैत सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त है। परन्तु गोस्वामीजी की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक न थी। उनके ग्रन्थों में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार वैष्णव, शैव, शाक्त आदि साम्प्रदायिक भावनाओं और पूजापद्धतियों का समन्वय भी उनकी रचनाओं में पाया जाता है। वे आदर्श समुच्चयवादी सन्त कवि थे।

प्रखर बुद्धि के स्वामी

भगवान शंकरजी की प्रेरणा से रामशैल पर रहने वाले श्री अनन्तानन्द जी के प्रिय शिष्य श्रीनरहर्यानन्द जी (नरहरि बाबा) ने इस बालक को ढूँढ़ निकाला और उसका नाम रामबोला रखा। उसे वे अयोध्या ले गये और वहाँ संवत् 1561 माघ शुक्ल पंचमी शुक्रवार को उसका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। बिना सिखाए ही बालक रामबोला ने गायत्री-मन्त्र का उच्चारण किया, जिसे देखकर सब लोग चकित हो गये। इसके बाद नरहरि स्वामी ने वैष्णवों के पाँच संस्कार करके रामबोला को राममंत्र की दीक्षा दी और अयोध्या ही में रहकर उन्हें विद्याध्ययन कराने लगे। बालक रामबोला की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। एक बार गुरुमुख से जो सुन लेते थे, उन्हें वह कंठस्थ हो जाता था। वहाँ से कुछ दिन बाद गुरु-शिष्य दोनों शूकरक्षेत्र (सोरों) पहुँचे। वहाँ श्री नरहरि जी ने तुलसीदास को रामचरित सुनाया। कुछ दिन बाद वह काशी चले आये। काशी में शेषसनातन जी के पास रहकर तुलसीदास ने पन्द्रह वर्ष तक वेद-वेदांग का अध्ययन किया। इधर उनकी लोकवासना कुछ जाग्रत् हो उठी और अपने विद्यागुरु से आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमि को लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि उनका परिवार सब नष्ट हो चुका है। उन्होंने विधिपूर्वक अपने पिता

आदि का श्राद्ध किया और वहीं रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे।

प्रसिद्धि

इधर पण्डितों ने जब यह बात सुनी तो उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे दल बाँधकर तुलसीदास जी की निन्दा करने लगे और उस पुस्तक को नष्ट कर देने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुराने के लिये दो चोर भेजे। चोरों ने जाकर देखा कि तुलसीदास जी की कुटी के आस-पास दो वीर धनुषबाण लिये पहरा दे रहे हैं। वे बड़े ही सुन्दर 'याम और गौर वर्ण के थे। उनके दर्शन से चोरों की बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समय से चोरी करना छोड़ दिया और भजन में लग गये। तुलसीदास जी ने अपने लिये भगवान को कष्ट हुआ जान कुटी का सारा समान लुटा दिया, पुस्तक अपने मित्र टोडरमल के यहाँ रख दी। इसके बाद उन्होंने एक दूसरी प्रति लिखी। उसी के आधार पर दूसरी प्रतिलिपियाँ तैयार की जाने लगीं। पुस्तक का प्रचार दिनों दिन बढ़ने लगा। इधर पण्डितों ने और कोई उपाय न देख श्रीमधुसूदन सरस्वती जी को उस पुस्तक को देखने की प्रेरणा की। श्रीमधुसूदन सरस्वती जी ने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उस पर यह सम्मति लिख दी-

आनन्दकानने ह्यास्मिंज्ङगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता॥

रचना संसार

तुलसीदास मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत कलाकार थे। उनकी अन्त-दृष्टि जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों से काव्य का तत्व खोज लेती है और उनके पास काव्य की समझ और अभिव्यक्ति की अपार क्षमता विद्यमान है। युग और जीवन की गहरी समझ के बिना कोई व्यक्ति कलाकार नहीं हो सकता। तुसली निःसंदेह एक बड़े कलाकार थे। उनकी काव्य-कलाके तत्व विवेचनीय हैं-

विषय वस्तु

तुलसी द्वारा रचित रामचरितमानस जो कि इनका प्रतिनिधि ग्रंथ है, इसकी विषय वस्तु का आधार 'अध्यात्म रामायण' तथा वाल्मीकि रामायण है। कथावस्तु के विकास और वर्णन विस्तार में भी तुलसी की असाधारण प्रतिभा

और कलात्मक विशेषज्ञता के दर्शन होते हैं। इसकी विषय वस्तु विन्यास की प्रशंसा में आचार्य 'यामसुन्दर दास नेलिखा है–'इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण का आधार लेकर तथा मध्यकालीन धर्म गन्थों के तत्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि एवं प्रतिभा से अद्‌भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया वह उनकी सारग्रहणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का परिचायक है।''

चारित्रिक वैशिष्ट्य

रामचरित मानस' के चरित्र पौराणिक हैं, पर वे अपने युगकी चारित्रिक मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं इसमें अनेक चरित्र ऐसे हैं, जिनके स्वभावऔर मानसिक प्रवृत्तियों की विशेषता गोस्वामी जी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों औरआचरणों की एकरूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की हैं। तुलसी ने अपने ग्रन्थों में पात्रों काचरित्र-चित्रण अत्यन्त सतर्कता, कोमलता, व्यापक उदारता के साथ किया है। उनके चरित्रमानव जीवन की विविध चारित्रिक विशेषताओं को अपने में समेटे हुए होते हैं। आदर्श जीवन की प्रतिष्ठा के लिए आदर्श मूल्यों की स्थापना का प्रयास किया है। रामचरितमानस में भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेई की आत्मग्लानि आदि के चित्रण से गोस्वामीजी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्‌भुत क्षमता के दर्शन मिलते हैं।

अलंकार

अलंकार भाषा के आभूषण हैं। इनसे ही प्राय: कल्पना का रूप होता है। तुलसी जी के अलंकार प्रयोग की विशेषता यह है कि उसमें कौतुक के स्थान पररमणीयता और सहसता है। रस सिद्ध कवि तुलसी दास केशव के समान अलंकारों के पीछे-मारे-मारे नहीं फिर, बल्कि अलंकार उनके काव्य में सहज रूप से आये हैं। यही कारण है कि अलंकार भावगुण, वस्तु और घटना के तीव्रता अनुभव कराने में सहायक सिद्ध हुए हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं।

''उदित उदय गिरिमंच पर रघुवर बाल पतंग।

विकसे संत सरोज सब, हरसैं लोचन भृंग।'' (सांगरूपक)'आगे दीखि जरति रिष भारी, महनु रोष तरवारि उधारी।' (उत्प्रेक्षा)

'पीपर पात सरिस मन डालो।' (उपमा) प्रथम प्रश्नपत्र "प्रभु अपने नीचहुं आदरहीं, अगिनिधूम गिरि तुन सिरधरहीं।" "सन्त हृदय नीवनत समाना, कहा कविनपै कहै न जाना, निज परिताप द्ववै नवनीता, परिदुरूख दवै सुसंत पुनीता।" (व्यतिरेक)

छन्द

तुलसी की भाषा शैली, अलंकार, छन्दों पर अबाध अधिकार था। इन्होंनेभाषा के संबंध में स्पष्टत: कह दिया था-

''का भाषा का संस्कृत भाख चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी का लै कै कमाँच।''

इनकी कामरी ही कमांच से अधिक मूल्यवान सिद्ध हुई। इन्होंने अपने समय की प्रचलित सभी शैलियों का बड़ी ही विदग्धैव्यतापूर्ण उपयोग किया है।

भाषा शैली और उक्तिवैचित्रय

प्रबंध वैचित्रय के अनुसार शैली वैचित्रय भीतुलसी जी की विशेषता है। अपने समय में प्रचलित वीर गाथा काल की छप्पय पद्धति विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित, सवैया पद्धति नीतिकाव्यों की सूक्ति पद्धथि प्रेमाख्यानों की दोहा-चौपाई पद्धति, तुलसी की शैली के मौलिकगुण हैं।

तुलसी महान शैली-निर्माता और ज्ञाता थे। डॉ. माता प्रसाद गुप्त इनकी शैली केविषय में लिखते हैं-''तुलसी की शैली के मौलिक गुण हैं, उसकी श्रद्धालु, उसकी सरलता उसकी सुबोधता, उसकी निर्व्य जता, उसकी अलंकार प्रियता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता, उसका प्रवाह, ऐसा प्रतीत होता है कि शैली की ये विशेषताएँ अपेक्षाकृत उसके जीवन का एक प्रतिरूप उपस्थित करती हैं। ये वास्तव में कवि के सुलझे हुए मस्तिष्क को उसके सादे जीवन और उच्च विचार के आदर्श को उसकी स्वभावगत सरलता और आडम्बर विहीनता को, उसके ध्यये की एकाग्रता को और इन सबसे अधिक अपने विषय में उसकी पूर्ण आत्मविस्मृति और उसके साथ पूर्ण तल्लीनता को किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा व्यक्त करती है।

इस प्रकार तुलसी का व्यक्तित्व उनकी शैली में भली-भांति है। तुलसी जी कीउक्तियों में उनका उक्ति वैचित्रय भी दर्शनीय है। उनकी उक्तियाँ बड़ी

ही मार्मिक और प्रभावशाली हैं। राम की निरूत्तर कर देने वाली सीता की यह उक्ति दर्शनीय है–

''मैं सुकुमारि नाय बन जोगू, तुमहि उचित तप मो कहं भोगू।''

राम जनकपुरी तो स्वयं देखना चाहते हैं, किन्तु लक्ष्मण से कहते हैं–

''नाथ लखनपुर देखने चहहों प्रभु संकोच डर प्रकट न कहीं।''

''मनहुं उमंग अंग-अंग कवि छलकै।'' (लक्षणा)

गोस्वामीजी की उक्तियों वैचित्रय के साथ उनकी निश्छलता और अनूठापन भी अपना महत्त्व रखता है। कौशल्या के चाहने पर भी प्राण न छोड़ सकने से संबंधित एक उक्ति दर्शनीय है–

''लागि रहत मेरे नैयननि आगे राम लषन अरू सीता।'

और उसी से–

''दुरूख न रहहि रघुपतिहिं विलोक मनु न रहैं बिनु देखे।'

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इसी काव्य में कला-पक्ष और भाव पक्ष अपने अत्यन्त प्रौढ़ रूप में है जो उन्हें एक अप्रतिम, प्रतिभाशाली, क्रान्त दर्शी कवि सिद्ध करते हैं।

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में–''तुलसी हिन्दी कविता कानन के सबसे बड़े वृक्ष हैं। उस वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं के काव्य कौशल की चारुता और रमणीयता चारों और बिखरी पड़ी है। यह सच है कि तुलसी कला के द्वारा उपकृत नहीं हुए प्रत्युत कला उनसे उपकृत हुई है–''कविता करके तुलसी न लसे, पै कविता लसी पा तुलसी की कला।''

गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक विचार

तुलसीदास न केवल महान भक्त थे बल्कि वे एक चिन्तक और दार्शनिक भी थे। उन्होनें जीव और ब्रह्म, जगत और माया जैसे तत्व मीमांसीय विषयों पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। तुलसी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन इन शीर्षकों में किया जा सकता है–

ब्रह्म का स्वरूप

दार्शनिक विषयों में सबसे पहले हम ब्रह्म पर विचार करते हैं। तुलसी ने भी ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, निर्विकार, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द, अनादि, विश्वरूप कहा है। उन्होंने राम को ही ब्रह्म कहा है। वे राम और ब्रह्म की एकता

निरूपित करते हुए कहते है–अमल अनवद्य अद्धैत निगुण सगुन ब्रह्म सुभिराम नरभूप रूपी। वे ब्रह्म को व्यापक एवं सर्वान्तरयामी मानते हुए कहते हैं–व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनन्दरासी।।

तुलसी के आराध्य राम दरअसल निर्गुण और निराकार ब्रह्म के ही सगुण साकार अवतार है–अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

तुलसी का मानना है कि जब-जब संसार में अर्धम बढ़ता है तथा असुर एवं अभिमानी बढ़ जाते है, तब-तब ब्रह्म अवतार लेते हैं–जब-जब होई धरम की हानी। बाढ़हिं असुर अभिमानी। तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

वे कहते हैं कि जो निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म है, वही भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर सगुण साकार रूप धारण कर लेता है–अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बधु वेदा। अगुन अरूप अलख अज सोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।

इस तरह हम देखते हैं कि तुलसी का ब्रह्म स्वतन्त्र एवं सच्चिदानन्द घन है, वहसर्वज्ञ, अनवद्य, निराकर, नित्य, निरंजन, अविनाशी, अमोध शक्ति सम्पन्न है। वही ब्रह्म के रूप में अवतरित हुआ है और नाना प्रकार की मानवीय लीलाएँ कर रहा है। उसकी ये लीलाएँ विचित्र है और मुनियों को भी भ्रमित कर देती है। अवतारवाद ब्रह्म के स्वरूप का प्रथम प्रश्नपत्रही विस्तार है। अवतार चाहे राम के रूप में हो कृष्ण के रूप में।

जीव का स्वरूप

भारतीय दार्शनिक परंपरा में जीव को प्रकृति के पाँच तत्वों से निर्मित माना है। इसके अतिरिक्त जीव को ब्रह्म का अंश भी माना जाता है। तुलसी नेइस परपंरा का निर्वाह करते हुए जीव के स्वरूप का प्रतिपादन किया और जीव को पाँचतत्वों से निर्मित बताया है छिति जल पावक गगन समीरा। पंच तत्व मिलि बनेउ सरीरा।।

वे यह भी कहते हैं कि यह जीव मन, प्राण अैर बुद्धि से विलक्षण है। यह ईश्वरका ही अंश है अत: ईश्वर के समान चेतन, अमूल, अविनाशी एवं सहज सुख का भण्डारहै, किन्तु माया के वशीभूत होने के कारण यह अपने मूल स्वरूप को भूल चुका है–ईश्वर अंस जीवन अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।। सो माया बस परसो गोसाईं। बंध्यो कीर मरकट की नाई।।

संपूर्ण दार्शनिक परंपरा जीव और माया के संबंध से संसार का निर्माण मानती है। तुलसी भी यह कहते हैं कि माया का प्रभाव जीव पर होता है, ईश्वर पर नहीं। माया तो ईश्वर के अधीन है राम सर्वज्ञ, मायापति, सर्वशक्तिमान हैं जबकि जीव अल्पज्ञ, पर तन्त्रमाया के वशीभूत है। जीव अज्ञानी एवं अंहकारी है। वह माया के वशीभूत होने कारण कर्मबन्धन में फंसा रहता है और नाना प्रकार के कष्ट सहता है। राम की कृपा से ही उसका उद्धार सम्भव है। जीव माया के कारण ही अमल रूप से अलग होकर मलिन हो जाता है और सुख को त्याग कर दु:ख को ग्रहण करता है। जीव का यह स्वरूप परंपरागत है। तुलसी इसी स्वरूप को ग्रहण करते हैं और उसमें कोई नई बात नहीं जोड़ते हैं। जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, किन्तु फल भोगने में परतंत्र है। माया के वशीभूत होकर यह जीवसांसारिक कर्म जाल में फंसा रहता हैं। माया के बंधन से मुक्ति कैसे मिल सकती है इस विषय में तुलसी का स्पष्ट मत है कि माया पति ईश्वर की कृपा से ही यह संभव है। स्पष्ट है कि तुलसी ने जीव को ईश्वर का अंश मानते हुए भी उसे ईश्वर से पृथक माना है। जीव की मुक्ति के लिए राम की कृपा और दास भाव की भक्ति की अनिवार्यता पर बल देते हैं। राम ही कृपा करें तो यह जीवन माया के बंधनों से मुक्त हो सकता है।

जगत का स्वरूप

जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि तुलसी के दार्शनिक विचार परंपरा से आये विचारों के अनुरूप ही हैं। अत: जगत के संबंध में भी तुलसी मानते हैं कि राम यानि ब्रह्म ही जगत के निमित्त और उपादान कारण है। जब राम (ब्रह्म) सत्य हैं तो जगत को भी सत्य होना चाहिए। विनय-पत्रिका के कई पदों में तुलसी ने जगत की भयंकरता, विषमता तथा भ्रमात्मक सत्ता पर आश्चर्य प्रकट किया है। संसार में व्याप्त पाखण्ड, काम, क्रोध, मोह, तृष्णा, दंभ, कपट, आदि सदा जीव को भ्रमित करते रहते हैं। जगत के इस स्वरूप के अलावा तुलसी ने इसे 'सियाराममय' भी स्वीकार किया है–सियाराम-मय सब जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी।।

इस पंक्ति पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब जगत सियाराममय है तो मिथ्या कैसे हो सकता है? वस्तुत: जगत रामरूप ही है, परन्तु माया के कारण ही वह राम सेभिन्न प्रतीत होता है। परपंरा के अनुसार जगत् का दृश्यमान रूप मिथ्या है, क्योंकि वह परिवर्तनशील है। राम की कृपा से जब उसे अपने

वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाता है तब वह इस जगत को सियाराममय पाता है। कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोऊ मानै। तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपुन पहिचानै।।

"यह कहकर तुलसी ने संसार की सत्यता, मिथ्यात्व, सत्यासत्यता तीनों बातो कोही मिथ्या ठहराया है। तीनों भ्रमात्मक रूपों को छोड़कर भक्ति को अपनाने का आग्रहतुलसी ने किया है। इस प्रकार जगत के निरूपण में शंकर का तथा अन्त में भक्ति के प्रतिपादन में रामनन्द का अनुसरण कर तुलसी ने अपने जगत संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया है।

माया का स्वरूप

दार्शनिक विचारों में माया का स्थान बहुत महत्त्वूपर्ण है, क्योंकि यही वह तत्व है जो संसार के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। माया रामकी अभिन्न शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा राम सृष्टि का कार्य सम्पन्न करते है। मायासीता है और राम के साथ ही वह सदा अवतार लेती है। तुलसी कहते हैं कि–आदि सक्ति जेहि जब उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।

माया जीव के मोह एवं भवबन्धन का कारण है। इसे ही माया का अविद्या रूप कहागया है। माया का दूसरा रूप विद्या है। वह ब्रह्म की शक्ति है जो विश्व का सृजन, सिंचन एवं संहार करने वाली है। यही जीव के मोक्ष का हेतु है ''स्फर्ति सेतुपालक राम तुम्हजगदीश माया जानकी। सो सृजति जग पालति हरति रूख पाई कृपानिधान की।।'' जीव के विकारी भाव–काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा, कामिनी इस माया के सहायक है। यह माया भक्तों को नहीं व्यापती, ऐसा कहकर तुलसी ने भक्ति की महत्ताबताई है। इस प्रकार तुलसी ने जहाँ जीव और ब्रह्म को एक माना है वहाँ माया और ब्रह्म को भी एक स्वीकार किया है। जहाँ वे जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार करते है, वहाँ वेरामानुज के आधार पर मुक्ति की अवस्था में जीव और ब्रह्म में द्धैत स्वीकार करते। इस तरह हम तुलसी के दार्शनिक विचारों का परिचय पा सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा

तुलसी की भाषा अवधि है और उनका ब्रज पर अधिकार था। चूँकि भाषा अभिव्यक्तिका सशक्त माध्यम है। तुलसीदास की कव्य भाषा में उचित शब्द प्रयोग, कथ्य के अनुकूलवाक्य-विन्यास, शब्दों का उपर्युक्त चयन, अर्थ को

अधिक प्रेषणीय बनाने के लिये लोकोक्तियों और मुहावरों का समुचित प्रयोग, नाद सौन्दर्य और चित्रात्मकता तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में से श्रीकृष्ण गीतावली, कवितावली, विनय पत्रिका, दोहावली, गीतावली तथा वैराग्य संदीवनी ग्रंथ ब्रज भाषा में लिखे गये हैं तथा रामचरितमानस, रामलला नहछू, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल ओर रामाज्ञा प्रश्न अवधी के श्रृंगार हैं। तुलसी की इन दोनों भाषाओं के शब्द भण्डार का प्रयोग किया है–संस्कृत शब्दावली, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश शब्दावली, विदेशी, शब्दावली, तत्कालीन प्रांतीय शब्दावली और हिन्दी की अन्य बोलियों की शब्दावली।

गोस्वामी तुलसीदास का भावपक्ष

तुलसी जी के भक्ति भावना सीधी सरल एवं साध्य है। सभी रचनाओं में भावों कीविविधता तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता है। वे सभी रसों के प्रयोग में सिद्धहस्त थे। अवधी व ब्रजभाषा पर उनका समान अधिकार था।

गोस्वामी तुलसीदास का कलापक्ष

तुलसी दास जी ने अपने युग में प्रचलित सभी काव्य शैलियों का सफलता पूर्वक प्रयोग किया है। जैसे-दोहा, चौपाई, कविता सवैया, छप्पय आदि। अलंकार उनके काव्य में सुन्दर व स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। राम चरित मानस अवधी भाषा का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

गोस्वामी तुलसीदास का साहित्य में स्थान

तुलसीदास जी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। हिन्दी साहित्य उनकी काव्यप्रतिभा के अक्षय प्रकाश से सदैव प्रकाशित रहेगा।

गोस्वामी तुलसीदास का केन्द्रीय भाव

संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने दोहो के माध्यम से मानव समाज को नीति की राह में चलने का उपदेश दिया है। जीवन को सफल बनाने के क्या तरीके हो सकते हैं? मीठे बचन बोलने से क्या लाभ होता है तथा काम, क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत व्यक्ति को क्या नुकसान होता है आदि उपदेशात्मक नीति वचनों के माध्यम से समाज के विकास में उन्होंने अपूर्व सहयोग प्रदान किया है।

ईश्वर के द्वारा उनकी महानता की जाँच

वो अपने समय के महान संत थे और एक आम व्यक्ति की तरह जीवन को जीने की वरीयता देते है। कई बड़े राजा-रानियों और दूसरे समृद्ध लोग उनके बड़े अनुयायी थे, लेकिन वो किसी से भी किसी प्रकार का धन या उपहार नहीं स्वीकारते थे। एक दिन भगवान के द्वारा उनके अंदर एक आम इंसान के लालच को परखा गया, एक दर्शनशास्त्री गुरु रविदास जी के पास एक पत्थर ले कर आये और उसके बारे में आश्चर्यजनक बात बतायी कि ये किसी भी लोहे को सोने में बदल सकता सकता है। उस दर्शनशास्त्री ने गुरु रविदास को उस पत्थर को लेने के लिये दबाव दिया और साधारण झोपड़े की जगह बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने को कहा, लेकिन उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया।

उस दर्शनशास्त्री ने फिर से उस पत्थर को रखने के लिये गुरुजी पर दबाव डाला और कहा कि मैं इसे लौटते वक्त वापस ले लूँगा साथ ही इसको अपनी झोपड़ी के किसी खास जगह पर रखने को कहा। गुरु जी ने उसकी ये बात मान ली। वो दर्शनशास्त्री कई वर्षों बाद लौटा तो पाया कि वो पत्थर उसी तरह रखा हुआ है। गुरुजी के इस अटलता और धन के प्रति इस विकर्षणता से वो बहुत खुश हुए। उन्होंने वो कीमती पत्थर लिया और वहाँ से गायब हो गये। गुरु रविदास ने हमेशा अपने अनुयायीयों को सिखाया कि कभी धन के लिये लालची मत बनो, धन कभी स्थायी नहीं होता, इसके बजाय आजीविका के लिये कड़ी मेहनत करो।

एक बार जब उनको और दूसरे दलितों को पूजा करने के जुर्म में काशी नरेश के द्वारा उनके दरबार में कुछ ब्राह्मणों की शिकायत पर बुलाया गया था, तो ये ही वो व्यक्ति थे जिन्होंने सभी गैर जरुरी धार्मिक संस्कारों को हटाने के द्वारा पूजा की प्रक्रिया को आसान बना दिया। संत रविदास को राजा के दरबार में प्रस्तुत किया गया जहाँ गुरुजी और पंडित पुजारी से फैसले वाले दिन अपने-अपने इष्ट देव की मूर्ति को गंगा नदी के घाट पर लाने को कहा गया।

राजा ने ये घोषणा की कि अगर किसी एक की मूर्ति नदी में तैरेगी तो वो सच्चा पुजारी होगा अन्यथा झूठा होगा। दोनों गंगा नदी के किनारे घाट पर पहुँचे और राजा की घोषणा के अनुसार कार्य करने लगे। ब्राह्मण ने हल्के भार

वाली सूती कपड़े में लपेटी हुयी भगवान की मूर्ति लायी थी वहीं संत रविदास ने 40 कि.ग्रा की चाकोर आकार की मूर्ती ले आयी थी। राजा के समक्ष गंगा नदी के राजघाट पर इस कार्यक्रम को देखने के लिये बहुत बड़ी भीड़ उमड़ी थी।

पहला मौका ब्राह्मण पुजारी को दिया गया, पुजारी जी ने ढ़ेर सारे मंत्र-उच्चारण के साथ मूर्ती को गंगा जी ने प्रवाहित किया लेकिन वो गहरे पानी में डूब गयी। उसी तरह दूसरा मौका संत रविदास का आया, गुरु जी ने मूर्ती को अपने कंधों पर लिया और शिष्टता के साथ उसे पानी में रख दिया, जो कि पानी की सतह पर तैरने लगा। इस प्रकिया के खत्म होने के बाद ये फैसला हुआ कि ब्राह्मण झूठा पुजारी था और गुरु रविदास सच्चे भक्त थे।

दलितों को पूजा के लिये मिले अधिकार से खुश होकर सभी लोग उनके पाँव को स्पर्श करने लगे। तब से, काशी नरेश और दूसरे लोग जो कि गुरु जी के खिलाफ थे, अब उनका सम्मान और अनुसरण करने लगे। उस खास खुशी के और विजयी पल को दरबार की दिवारों पर भविष्य के लिये सुनहरे अक्षरों से लिख दिया गया।

संत रविदास को कुष्ठरोग को ठीक करने के लिये प्राकृतिक शक्ति मिली हुई थी

समाज में उनकी महान प्राकृतिक शक्तियों से भरी गजब की क्रिया के बाद ईश्वर के प्रति उनकी सच्चाई से प्रभावित होकर हर जाति और धर्म के लोगों पर उनका प्रभाव पड़ा और सभी गुरु जी के मजबूत विद्यार्थी, अनुयायी और भक्त बन गये। बहुत साल पहले उन्होंने अपने अनुयायीयों को उपदेश दिया था और तब एक धनी सेठ भी वहाँ पहुँचा मनुष्य के जन्म के महत्त्व के ऊपर धार्मिक उपदेश को सुनने के लिये।

धार्मिक उपदेश के अंत में गुरु जी ने सभी को प्रसाद के रुप में अपने मिट्टी के बर्तन से पवित्र पानी दिया। लोगों ने उसको ग्रहण किया और पीना शुरु किया हालाँकि धनी सेठ ने उस पानी को गंदा समझ कर अपने पीछे फेंक दिया जो बराबर रुप से उसके पैरों और जमींन पर गिर गया। वो अपने घर गया और उस कपड़े को कुष्ठ रोग से पीड़ित एक गरीब आदमी को दे दिया। उस कपड़े को पहनते ही उस आदमी के पूरे शरीर को आराम महसूस होने लगा, जबकि उसके जख्म जल्दी भरने लगे और वो जल्दी ठीक हो गया।

हालाँकि धनी सेठ को कुष्ठ रोग हो गया जो कि महँगे उपचार और अनुभवी और योग्य वैद्य द्वारा भी ठीक नहीं हो सका। उसकी स्थिति दिनों-दिन बिगड़ती चली गयी तब उसे अपनी गलतियों का एहसास हुआ और वो गुरु जी के पास माफी माँगने के लिये गया और जख्मों को ठीक करने के लिये गुरु जी से वो पवित्र जल प्राप्त किया। चूँकि गुरु जी बेहद दयालु थे इसलिए उसको माफ करने के साथ ही ठीक होने का ढ़ेर सारा आशीर्वाद भी दिया। अंततः वो धनी सेठ और उसका पूरा परिवार संत रविदास का भक्त हो गया।

संत रविदास का सकारात्मक नजरिया

उनके समय में शुद्रों (अस्पृश्य) को ब्राह्मणों की तरह जनेऊ, माथे पर तिलक और दूसरे धार्मिक संस्कारों की आजादी नहीं थी। संत रविदास एक महान व्यक्ति थे, जो समाज में अस्पृश्यों के बराबरी के अधिकार के लिये उन सभी निषेधों के खिलाफ थे जो उन पर रोक लगाती थी। उन्होंने वो सभी क्रियाएँ जैसे जनेऊ धारण करना, धोती पहनना, तिलक लगाना आदि निम्न जाति के लोगों के साथ शुरु किया जो उन पर प्रतिबंधित था।

ब्राह्मण लोग उनकी इस बात से नाराज थे और समाज में अस्पृश्यों के लिये ऐसे कार्यों को जाँचने का प्रयास किया। हालाँकि गुरु रविदास जी ने हर बुरी परिस्थिति का बहादुरी के साथ सामना किया और बेहद विनम्रता से लोगों का जवाब दिया। अस्पृश्य होने के बावजूद भी जनेऊ पहनने के कारण ब्राह्मणों की शिकायत पर उन्हें राजा के दरबार में बुलाया गया। वहाँ उपस्थित होकर उन्होंने कहा कि अस्पृश्यों को भी समाज में बराबरी का अधिकार मिलना चाहिए क्योंकि उनके शरीर में भी दूसरों की तरह खून का रंग लाल और पवित्र आत्मा होती है।

संत रविदास ने तुरंत अपनी छाती पर एक गहरी चोट की और उस पर चार युग जैसे सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलयुग की तरह सोना, चाँदी, ताँबा और सूती के चार जनेऊ खींच दिया। राजा समेत सभी लोग अचंभित रह गये और गुरु जी के सम्मान में सभी उनके चरणों को छूने लगे। राजा को अपने बचपने जैसे व्यवहार पर बहुत शर्मिंदगी महसूस हुई और उन्होंने इसके लिये माफी माँगी। गुरु जी ने सभी माफ करते हुए कहा कि जनेऊ धारण करने का

ये मतलब नहीं कि कोई भगवान को प्राप्त कर लेता है। इस कार्य में वो केवल इसलिये शामिल हुए ताकि वो लोगों को वास्तविकता और सच्चाई बता सके। गुरु जी ने जनेऊ निकाला और राजा को दे दिया इसके बाद उन्होंने कभी जनेऊ और तिलक का इस्तेमाल नहीं किया।

कुंभ उत्सव पर एक कार्यक्रम

एक बार पंडित गंगा राम गुरु जी से मिले और उनका सम्मान किया। वो हरिद्वार में कुंभ उत्सव में जा रहे थे गुरु जी ने उनसे कहा कि ये सिक्का आप गंगा माता को दे दी जीयेगा अगर वो इसे आपके हाथों से स्वीकार करें। पंजित जी ने बड़ी सहजता से इसे ले लिया और वहाँ से हरिद्वार चले गये। वो वहाँ पर नहाये और वापस अपने घर लौटने लगे बिना गुरु जी का सिक्का गंगा माता को दिये।

वो अपने रास्ते में थोड़ा कमजोर होकर बैठ गये और महसूस किया कि वो कुछ भूल रहे हैं, वो दुबारा से नदी के किनारे वापस गये और जोर से चिल्लाए माता, गंगा माँ पानी से बाहर निकली और उनके अपने हाथ से सिक्के को स्वीकार किया। माँ गंगा ने संत रविदास के लिये सोने के कँगन भेजे। पंडित गंगा राम घर वापस आये वो कँगन गुरु जी के बजाए अपनी पत्नी को दे दिया।

एक दिन पंडित जी की पत्नी उस कँगन को बाजार में बेचने के लिये गयी। सोनार चालाक था, सो उसने कँगन को राजा और राजा ने रानी को दिखाने का फैसला किया। रानी ने उस कँगन को बहुत पसंद किया और एक और लाने को कहा। राजा ने घोषणा की कि कोई इस तरह के कँगन नहीं लेगा, पंडित अपने किये पर बहुत शर्मिंदा था, क्योंकि उसने गुरुजी को धोखा दिया था। वो रविदास जी से मिला और माफी के लिये निवेदन किया। गुरु जी ने उससे कहा कि 'मन चंगा तो कठौती में गंगाह्न ये लो दूसरे कँगन' जो पानी से भरे जल में मिट्टी के बर्तन में गंगा के रुप में यहाँ बह रही है। गुरु जी की इस दैवीय शक्ति को देखकर वो गुरु जी का भक्त बन गया।

उनके पिता के मौत के समय की घटना

रविदास की पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने पड़ोसियों से विनती की कि वो गंगा नदी के किनारे अंतिम रिवाज में मदद करें। हालाँकि ब्राह्मण रिती

के संदर्भ में खिलाफ थे कि वो गंगा के जल से स्नान करेंगे, जो रस्म की जगह से मुख्य शहर की ओर जाता है और वो प्रदूषित हो जायेगा। गुरु जी बहुत दुखी और मजबूर हो गये हालाँकि उन्होंने कभी भी अपना धैर्य नहीं खोया और अपने पिता की आत्मा की शांति के लिये प्रार्थना करने लगे। अचानक से वातावरण में एक भयानक तूफान आया और नदी का पानी उल्टी दिशा में बहना प्रारंभ हो गया और जल की एक गहरी तरंग आयी और लाश को अपने साथ ले गयी। इस भवंडर ने आसपास की सभी चीजों को सोख लिया। तब से, गंगा का पानी उल्टी दिशा में बह रहा है।

कैसे बाबर प्रभावित हुए रविदास के अध्यापन से

इतिहास के अनुसार बाबर मुगल साम्राज्य का पहला राजा था, जो 1526 में पानीपत का युद्ध जीतने के बाद दिल्ली के सिहांसन पर बैठा जहाँ उसने भगवान के भरोसे के लिये लाखों लोगों को कुर्बान कर दिया। वो पहले से ही संत रविदास की दैवीय शक्तियों से परिचित था और फैसला किया कि एक दिन वो हुमायुँ के साथ गुरु जी से मिलेगा। वो वहाँ गया और गुरु जी को सम्मान देने के लिये उनके पैर छूए हालाँकि, आशीर्वाद के बजाय उसे गुरु जी से सजा मिली, क्योंकि उसने लाखों निर्दोष लोगों की हत्याएँ की थी। गुरु जी ने उसे गहराई से समझाया जिसने बाबर को बहुत प्रभावित किया और इसके बाद वो भी संत रविदास का अनुयायी बन गया तथा दिल्ली और आगरा के गरीबों की सेवा के द्वारा समाज सेवा करने लगा।

संत रविदास की मृत्यु

समाज में बराबरी, सभी भगवान एक है, इंसानियत, उनकी अच्छाई और बहुत से कारणों की वजह से बदलते समय के साथ संत रविदास के अनुयायीयों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी। दूसरी तरफ, कुछ ब्राह्मण और पीरन दित्ता मिरासी गुरु जी को मारने की योजना बना रहे थे इस वजह से उन लोगों ने गाँव से दूर एक एकांत जगह पर मिलने का समय तय किया। किसी विषय पर चर्चा के लिये उन लोगों ने गुरु जी को वहाँ पर बुलाया जहाँ उन्होंने गुरु जी की हत्या की साजिश रची थी हालाँकि गुरु जी को अपनी दैवीय शक्ति की वजह से पहले से ही सब कुछ पता चल गया था।

जैसे ही चर्चा शुरु हुई, गुरु जी उन्ही के एक साथी भल्ला नाथ के रुप में दिखायी दिये जो कि गलती से तब मारा गया था। बाद में जब गुरु जी ने अपने झोपड़े में शंखनाद किया, तो सभी हत्यारे गुरु जी को जिंदा देख भौंचक्के रह गये तब वो हत्या की जगह पर गये, जहाँ पर उन्होंने संत रविदास की जगह अपने ही साथी भल्ला नाथ की लाश पायी। उन सभी को अपने कृत्य पर पछतावा हुआ और वो लोग गुरु जी से माफी माँगने उनके झोपड़े में गये।

हालाँकि, उनके कुछ भक्तों का मानना है कि गुरु जी की मृत्यु प्राकृतिक रुप से 120 या 126 साल में हो गयी थी। कुछ का मानना है उनका निधन वाराणसी में 1540 एडी में हुआ था।

8

सूर साहित्य में बिंब योजना

सूरदास हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल में कृष्ण भक्ति के भक्त कवियों में अग्रणी है। महाकवि सूरदास जी वात्सल्य रस के सम्राट माने जाते हैं। उन्होंने श्रृंगार और शान्त रसों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उनका जन्म मथुरा-आगरा मार्ग पर स्थित रुनकता नामक गाँव में हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि सूरदास जी का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाद में वह आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 विक्रमी के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 विक्रमी के आस-पास मानी जाती है। सूरदास जी के पिता रामदास गायक थे। सूरदास जी के जन्मांध होने के विषय में भी मतभेद हैं। आगरा के समीप गऊघाट पर उनकी भेंट वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षा दे कर कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास जी अष्टछाप कवियों में एक थे। सूरदास जी की मृत्यु गोवर्धन के पास पारसौली ग्राम में 1563 ईस्वी में हुई।

जन्म

सूरदास का जन्म कब हुआ, इस विषय में पहले उनकी तथाकथित रचनाओं, 'साहित्य लहरी' और 'सूरसारावली' के आधार पर अनुमान लगाया

गया था और अनेक वर्षों तक यह दोहराया जाता रहा कि उनका जन्म संवत 1540 विक्रमी (सन 1483 ई.) में हुआ था, परन्तु विद्वानों ने इस अनुमान के आधार को पूर्ण रूप में अप्रमाणिक सिद्ध कर दिया तथा पुष्टिमार्ग में प्रचलित इस अनुश्रुति के आधार पर कि सूरदास श्री मद्वल्लभाचार्य से 10 दिन छोटे थे, यह निश्चित किया कि सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल पक्ष पंचमी, संवत 1535 वि. (सन 1478 ई.) को हुआ था। इस साम्प्रदायिक जनुश्रुति को प्रकाश में लाने तथा उसे अन्य प्रमाणों में पुष्ट करने का श्रेय डॉ. दीनदयाल गुप्त को है। जब तक इस विषय में कोई अन्यथा प्रमाण न मिले, हम सूरदास की जन्म-तिथि को यही मान सकते हैं।

काल-निर्णय

सूरदास हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में कृष्ण भक्ति के भक्त कवियों में अग्रणी हैं। महाकवि सूरदास जी वात्सल्य रस के सम्राट माने जाते हैं। उन्होंने श्रृंगार और शान्त रसों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उनका जन्म मथुरा-आगरा मार्ग पर स्थित रुनकता नामक गांव में हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि सूरदास का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाद में वह आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत 1540 विक्रमी के सन्निकट और मृत्यु संवत 1620 विक्रमी के आस-पास मानी जाती है।

पुष्टिमार्ग में दीक्षा

सूरदास के पिता रामदास गायक थे। सूरदास के जन्मांध होने के विषय में भी मतभेद हैं। आगरा के समीप गऊघाट पर उनकी भेंट वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षा देकर कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास 'अष्टछाप' के कवियों में से एक थे। सूरदास की मृत्यु गोवर्धन के पास पारसौली ग्राम में 1563 ईस्वी में हुई। उनकी जन्म-तिथि तथा उनके जीवन की कुछ अन्य मुख्य घटनाओं के काल-निर्णय का भी प्रयत्न किया गया है। इस आधार पर कि गऊघाट पर भेंट होने के समय वल्लभाचार्य गद्दी पर विराजमान थे, यह अनुमान किया गया है कि उनका विवाह हो चुका था, क्योंकि ब्रह्मचारी का गद्दी पर बैठना वर्जित है।

वल्लभाचार्य का विवाह संवत 1560-61 (सन 1503-1504 ई.) में हुआ था, अत: यह घटना इसके बाद की है। 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार यह घटना संवत 1567 विक्रमी के (सन 1510 ई.) आसपास की है। इस प्रकार सूरदास 30-32 वर्ष की अवस्था में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए होंगे।

विट्ठलनाथ का सत्संग

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से सूचित होता है कि सूरदास को गोसाई विट्ठलनाथ का यथेष्ट सत्संग प्राप्त हुआ था। गोसाई जी संवत 1628 विक्रमी (सन 1571 ई.) में स्थायी रूप से गोकुल में रहने लगे थे। उनका देहावसान संवत 1642 विक्रमी (सन 1585 ई.) में हुआ।

सूरदास, सूरकुटी, सूर सरोवर, आगरा

'वार्ता' से सूचित होता है कि सूरदास को देहावसान गोसाई जी के सामने ही हो गया था।

सूरदास ने गोसाई जी के सत्संग का एकाध स्थल पर संकेत करते हुए ब्रज के जिस वैभवपूर्ण जीवन का वर्णन किया है, उससे विदित होता है कि गोसाई जी को सूरदास के जीवनकाल में ही सम्राट अकबर की ओर से वह सुविधा और सहायता प्राप्त हो चुकी थी, जिसका उल्लेख संवत् 1634 (सन् 1577 ई.) तथा संवत 1638 विक्रमी (सन 1581 ई.) के शाही फरमानों में हुआ है। अत: यह अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास संवत् 1638 (सन 1581 ई.) या कम से कम संवत 1634 विक्रमी के बाद तक जीवित रहे होंगे।

अकबर की सूरदास से भेंट

मौटे तौर पर कहा जा सकता है कि वे संवत 1640 विक्रमी अथवा सन् 1582-83 ई. के आस-पास गोकुलवासी हुए होंगे। इन तिथियों के आधार पर भी उनका जन्म संवत 1535 विक्रमी (सन 1478 ई.) के आस-पास पड़ता है, क्योंकि वे 30-32 वर्ष की अवस्था में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में अकबर और सूरदास की भेंट का वर्णन हुआ है। गोसाई हरिराय के अनुसार यह भेंट तानसेन ने करायी थी। तानसेन संवत 1621 (सन् 1564 ई.) में अकबर के दरबार में आये थे। अकबर के राज्य काल की राजनीतिक घटनाओं पर विचार करते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि

वे संवत 1632-33 (सन् 1575-76 ई.) के पहले सूरदास से भेंट नहीं कर पाये होंगे, क्योंकि संवत 1632 में (सन् 1575 ई.) उन्होंने फतेहपुर सीकरी में इबादतखाना बनवाया था तथा संवत 1633 (सन् 1576 ई.) तक वे उत्तरी भारत के साम्राज्य को पूर्ण रूप में अपने अधीन कर उसे संगठित करने में व्यस्त रहे थे। गोसाई विट्ठलनाथ से भी अकबर ने इसी समय के आस-पास भेंट की थी।

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में मतभेद

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'साहित्य लहरी' सूर की लिखी रचना मानी जाती है। इसमें साहित्य लहरी के रचना-काल के संबंध में निम्न पद मिलता है–

मुनि पुनि के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख।।

इसका अर्थ संवत् 1607 ईस्वी में माना गया है, अतएव 'साहित्य लहरी' का रचना काल संवत् 1607 वि. है। इस ग्रन्थ से यह भी प्रमाण मिलता है कि सूर के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे।

सूरदास का जन्म सं. 1540 ईस्वी के लगभग ठहरता है, क्योंकि बल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि बल्लभाचार्य सूरदास से दस दिन बड़े थे और बल्लभाचार्य का जन्म उक्त संवत् की वैशाख् कृष्ण एकादशी को हुआ था। इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला पंचमी, संवत् 1535 वि0 समीचीन जान पड़ती है। अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका मृत्यु संवत् 1620 से 1648 ईस्वी के मध्य स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 वि. के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 ईस्वी के आसपास माना जाता है।

श्री गुरु बल्लभ तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।

सूरदास की आयु 'सूरसारावली' के अनुसार उस समय 67 वर्ष थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर उनका जन्म रुनकता अथवा रेणु का क्षेत्र (वर्तमान जिला आगरान्तर्गत) में हुआ था। मथुरा और आगरा के बीच गऊघाट पर ये निवास करते थे। बल्लभाचार्य से इनकी भेंट वहीं पर हुई थी। 'भावप्रकाश' में सूर का जन्म स्थान सीही नामक ग्राम बताया गया है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और जन्म के अंधे थे। 'आइने अकबरी' में (संवत् 1653

ईस्वी) तथा 'मुतखबुत-तवारीख' के अनुसार सूरदास को अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में माना है।

क्या सूरदास जन्मान्ध थे?

सूरदास श्रीनाथ की 'संस्कृतवार्ता मणिपाला', श्री हरिराय कृत 'भाव-प्रकाश', श्री गोकुलनाथ की 'निजवार्ता' आदि ग्रन्थों के आधार पर, जन्म के अन्धे माने गए हैं। लेकिन राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य का सजीव चित्रण, नाना रंगों का वर्णन, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता आदि गुणों के कारण अधिकतर वर्तमान विद्वान सूर को जन्मान्ध स्वीकार नहीं करते।

श्यामसुन्दर दास ने इस संबंध में लिखा है–'सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रुपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।' (हजारीप्रसाद द्विवेदी), ने लिखा है–'सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए।'

सूरदास की रचनाएँ

सूरदास द्वारा लिखित कृतियाँ मानी जाती हैं–1. सूर सारावली 2. साहित्यलहरी 3. सूर सागर 4. भागवत भाषा 5. दशम् स्कन्ध भाषा 6. सूरसागर सार 7. सूररामायण 8. मान लीला 9. नाग लीला 10. दान लीला 11. भंवर लीला 12. सूर दशक13. सूर साठी 14. सूर पच्चीसी 15. सेवाफल 16. ब्याहलो 17. प्राणप्यारी 18. दृष्टि कूटके पद 19. सूर के विनय आदि के पद 20. नल दमयंती 21. हरिवंश टीका 22. रामजन्म 23. एकादशी महात्म्य। कुछ आधुनिक आलोचकों ने सूरदास के तीन ग्रंथ हीप्रामाणिक माने हैं। ये तीन प्रसिद्ध हैं–1. सूर सारावली 2. साहित्य लहरी 3.सूरसागर।

सूर सारावली

सूर सारावली नाम से ऐसा लगता है मानो यह सूर सागर की भूमिका, सारांश या अन्य कुछ है। ग्रंथ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यह रचना ऐसीन होकर वल्लभाचार्य के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धातों का लौकिक रूप है, जो एक वृहतहोली गान के रूप में प्रकट किया गया है। सूर सारावली में

विषय की दृष्टि से कृष्ण के कुरूक्षेत्र से लौटने के बाद के समय से जुडे संयोग लीला, वसंत हिंडोला और होली आदि प्रसंग अभिव्यक्त हुए है।

साहित्य लहरी

साहित्य लहरी सूरदास की दूसरी प्रमुख रचना है। इसमें कुल 118 पद हैं। साहित्य लहरी का विषय सूर सागर से कुछ भिन्न एवं तारतम्य विहीन दिखाई देताहै। इसके पदों में रस, अलंकार, निरूपण एवं नायिका भेद तो है ही, साथ ही कुछ पदों में कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन भी है। साहित्य लहरी में अनेक पद दृष्टिकूट पद है, जिनमें गुह्य बातों का दृष्टिकूटों के रूप में वर्णन किया गया है। कृष्ण की बाल लीलाओं के साथ ही नायिकाओं के अनेक भेद के साथ राधा का वर्णन भी है तो अनेक प्रकार के अलंकारों जैसे–दृष्टांत, परिकर, निदर्शना, विनोक्ति, समासोक्ति, व्यतिरेक का भी उल्लेख है।

सूरसागर

सूरदास की काव्य यात्रा का यह सर्वोत्कृष्ट दिग्दर्शन है। ऐसा माना जाताहै कि इसमें सवा लाख पद थे, किन्तु वर्तमान में प्राप्त और प्रकाशित सूरसागर में लगभगचार से पाँच हजार पद संकलित है। सूरसागर की रचना का मूल आधार श्रीमद्भागवत है। इसमें सूरदास ने श्रीमद्भागवत् का उतना ही आधार ग्रहण किया है, जितना कि कृष्ण की ब्रज लीलाओं की रूपरेखाओं के निर्माण के लिए आवश्यक था। सूरसागर प्रबंध काव्य नहीं है। यह तो प्रसंगानुसार कृष्ण लीला से संबंधित उनके प्रेममय स्वरूप को साकार करने वाले पदों का संग्रह मात्र है। सूरसागर की कथा वस्तु बारह स्कन्धों में विभक्त है। इनमें दशम्स्कन्ध में ही कृष्ण की लीलाओं का अत्यंत विस्तार से वर्णन है। सूरसागर में आये पदों को विषय के अनुसार इन वर्गों में रखा जा सकता है–

कृष्ण की बाल लीलाओं से संबंधित पद
कृष्ण कीद प्रेम और मान लीलाओं से संबंधित पद
दान लीला के पद
मान लीला के पद और भ्रमर गीत
विनय, वैराग्य, सत्संग एवं गुरू महिमा से संबंधित पद
श्रीमद्भागवत के अनुसार रखे गये पद

काव्य पक्ष

काव्य के मुख्य रूप से दो पक्ष होते हैं-

1. भावपक्ष
2. कलापक्ष

भावपक्ष काव्य का आंतरिक गुण है। इसका संबंध कवि की सहृदयता और भावुकता से होता है। काव्य के शरीर तत्व को कलापक्ष कहते हैं। इसका संबंध कवि की चतुरता और रचना-कौशल से होता है। भावपक्ष एवं कलापक्ष से समन्वित काव्य ही श्रेष्ठ काव्य का उदाहरण माना जाता है।

भावपक्ष

महाकवि सूरदास का 'सूरसागर' वास्तव में रस का महासागर है। इसमें भावों की विविधता और अनेक रूपता के सहज दर्शन होते हैं। मानव हृदय की गहराइयों में डूबने वाले कवि से यही आशा और अपेक्षा भी होती है। अपने सीमित क्षेत्र में भी नवीन उद्‌भावनाओं, कोमल कल्पनाओं आदि के कारण ही सूरदास हिंदी साहित्य के सवश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। सूरदास की कविता के भावपक्ष को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है-

वस्तु-वर्णन

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से सूरदास के संपूर्ण काव्य को प्रमुखत: छ: भागों में बांटकर देखा जा सकता है-(1.) विनय के पद, (2.) बालक कृष्ण से संबंधित पद, (3.) कृष्ण के रूप-सौंदर्य संबंधी पद, (4.) कृष्ण और राधा के रति भाव संबंधी पद, (5.) मुरली संबंधी पद, और (6.) वियोग श्रृंगार के भ्रमरगीत के पद।

विनय के पदों में सूरदास ने विनय की संपूर्ण भूमिकाओं एवं वैष्णव भक्ति संबंधी समस्त नियमों के अनुकूल विनम्रता, निरभिमानता, निष्कपटता, इष्टदेव की महत्ता, भक्त की लघुता आदि का निरूपण बड़ी सजीवता के साथ किया है। कृष्ण के बाल-जीवन संबंधी पदों में सूरदास की अद्‌भुत कला के दर्शन होते हैं। सूरदास ने बाल-जीवन का ऐसा जीता-जागता चित्र अंकित किया है, जिसमें मनोवैज्ञानिकता, सरसता और चित्ताकर्षकता, सभी विद्यमान हैं। कृष्ण के रूप-माधुर्य संबंधी पदों में सूरदास ने अपने इष्टदेव कृष्ण के अनंत सौंदर्य की ऐसी झांकी प्रस्तुत की है, जिसे देखकर सभी का

हृदय अनायास ही उस सौंदर्य पर न्यौछावर हो जाता है। कृष्ण और राधा के रति संबंधी पदों में सूरदास कृष्ण के साथ राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए उन्हें आराध्य देवी के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। मुरली संबंधी पदों में सूरदास मुरली को एक साधारण मनोमुग्धकारी यंत्र से अधिक व्यापक अर्थ प्रदान करते हैं और आखिर में वियोग संबंधी भ्रमरगीत के पदों में सूरदास की कला के सर्वोत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है। इन पदों में सूरदास ने सरसता, वाग्वैदग्ध्य एवं माधुर्य के साथ-साथ उद्धव संदेश, गोपियों की झुंझुलाहट, प्रेमातिरेक, व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास, उपालंभ, उदारता, सहज चपलता, विरहोंमाद, वचन-वक्रता आदि का अद्‌भुत वर्णन किया है। स्पष्ट है कि सूरदास ने कृष्ण के बाल-जीवन से लेकर किशोरावस्था तक की संपूर्ण क्रीड़ाओं, चेष्टाओं एवं व्यापारों आदि के मनोहारी चित्रण द्वारा' सूरसागर' के रूप में एक अद्‌भुत काव्य की सृष्टि की है, जिसमें वात्सल्य और विप्रलंभ संबंधी वर्णन सर्वोपरि हैं।

प्रकृति-चित्रण

सूरदास की कविता के केंद्र में ब्रज प्रदेश की रमणीय प्रकृति अपने पूरे वैभव के साथ उपस्थित है। ब्रज प्रदेश की प्रकृति का मनोहारी रूप और आनंदोल्लासपूर्ण मधुर कलरव सूरदास के प्रत्येक पदों में गुंजायमान है। प्रकृति-नटी के रमणीय झांकी अंकित करते हुए सूरदास उसके षड्‌ऋतुओं में परिवर्तित होने वाले दिव्य सौंदर्य का मनमोहक निरूपण करते हैं। बसंत ऋतु के एक चित्र में कोकिल सदैव शोर मचाती रहती है, मन्मथ सदा चित्त चुराता रहता है, वृक्षों की डालियाँ विविध प्रकार के पुष्पों से भरी रहती हैं, जिन पर भ्रमर उन्मुक्त होकर विलास करते रहते हैं और ऐसे में सर्वत्र हर्ष एवं उल्लास छाया रहता है और कोई भी उदास नहीं होता-

सदा बसंत रहत जहं बास। सदा हर्ष जहं नहीं उदास॥
कोकिल कीर सदा तंह रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर॥
विविध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार॥

कलापक्ष

कलापक्ष काव्य का वाह्य अंग होता है, जिसके अंतर्गत प्रमुखत: काव्य-शैली, भाषा, अलंकार आदि का समावेश होता है। ये तीनों भावों के वाहक हैं, जिनके

माध्यम से भावों को संप्रेषित किया जाता है। सूरदास की कविता के कलापक्ष को निम्नांकित रूप में देख सकते हैं-

काव्य-शैली

जीवन की कोमलतम अनुभूतियाँ गीत-शैली में उत्तम ढंग से व्यक्त हो सकती हैं। इसीलिए सूरदास ने गीत-शैली का आधार ग्रहण किया। कृष्ण का ब्रज रूप समस्त गीति-काव्य की सुंदरतम भावभूमि है। 'सूरसागर' में एक ओर जहां कथा की क्षीण धारा प्रवाहित होती है, वहीं दूसरी ओर वर्णात्मक प्रसंग भी हैं, किंतु इनमें कवि का मन ज्यादा रमा नहीं है। प्रत्येक समर्थ साहित्यकार की अपनी विशिष्ट शैली होती है, जिसमें उसका संपूर्ण व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है। कुछ विद्वानों ने 'सूरसागर' को प्रबंध-मुक्तक काव्य की संज्ञा से विभूषित किया है। डॉ. सत्येंद्र इसे 'कीर्तन काव्य' कहते हैं, जबकि डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने विविधता की दृष्टि से 'सूरसागर' के पदों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप में किया है-

श्रीमद्भागवत के कथा प्रसंग तथा कथा-पूर्ति हेतु वर्णात्मक अंश
दृश्य और वर्णन विस्तार
वर्णात्मक कथानक
गीतात्मक कथानक
सामान्य चरित संबंधी गेय पद
विशिष्ट क्रीड़ा संबंधी गेय पद
रूप चित्रण और मुरली-वादन संबंधी गेय पद
प्रभाव-वर्णन संबंधी गेय पद
भाव-चित्रण संबंधी गेय पद
फुटकल गेय पद।

सूरदास के पदों में गीतिकाव्य के सभी प्रधान तत्व देखें जाते हैं। सूरदास के पदों की आत्मा संगीत है, जिसकी रचना अनुभूति की सघनता के क्षणों में हुई है। इनमें भाषाओं की वंश वर्तनी है एवं कवि के अंतर्वेग को छंद ने लय की एकरूपता में बांध दिया है। इनमें अभिप्रेत अर्थ भावों तक पहुंचाने का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सब ही विशेषताएँ गीतिकाव्य के अंतर्गत आती हैं। निर्विवादित रूप से 'सूरसागर' गीति-शैली का एक अद्वितीय काव्य-ग्रंथ है।

दृष्टिकूटि-शैली

'सूरसागर' में दृष्टिकूटि-शैली भी देखने को मिलती है। सूरदास की काव्य-कला का एक नमूना वह है, जिसमें शब्द-क्रीड़ा का चमत्कार प्रस्तुत किया गया है। इसमें न तो लोकगीतों की सहजता है और न ही आंतरिक संगीतात्मकता। दृष्टिकूटि पद-रचना हिन्दी में सूरदास की अपनी निजी कलात्मक विशेषता है। उनमें शब्द-क्रीड़ा एवं चमत्कार की सर्वत्र प्रमुखता है।

भाषा-शैली

सूरदास की रचना परिमाण और गुण दोनों में महान् कवियों के बीच अतुलनीय है। आत्माभिव्यंजना के रूप में इतने विशाल काव्य का सर्जन सूर ही कर सकते थे, क्योंकि उनके स्वात्ममुं सम्पूर्ण युग जीवन की आत्मा समाई हुई थी। उनके स्वानुभूतिमूलक गीतिपदों की शैली के कारण प्रायः यह समझ लिया गया है कि वे अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन के प्रति पूर्ण रूप में सजग नहीं थे, परन्तु प्रचारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यदि देखा जाय तो स्वीकार किया जाएगा कि सूर के काव्य में युग जीवन की प्रबुद्ध आत्मा का जैसा स्पन्दन मिलता है, वैसा किसी दूसरे कवि में नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि उन्होंने उपदेश अधिक नहीं दिये, सिद्धान्तों का प्रतिपादन पण्डितों की भाषा में नहीं किया, व्यावहारिक अर्थात् सांसारिक जीवन के आदर्शों का प्रचार करने वाले सुधारक का बना नहीं धारण किया, परन्तु मनुष्य की भावात्मक सत्ता का आदर्शीकृत रूप गढ़ने में उन्होंने जिस व्यवहार बुद्धि का प्रयोग किया है, उससे प्रमाणित होता है कि वे किसी मनीषी से पीछे नहीं थे। उनका प्रभाव सच्चे कान्ता सम्मित उपदेश की भाँति सीधे हृदय पर पड़ता है। वे निरे भक्त नहीं थे, सच्चे कवि थे। ऐसे द्रष्टा कवि थे, जो सौन्दर्य के ही माध्यम से सत्य का अन्वेषण कर उसे मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। युगजीवन का प्रतिबिम्ब होते हुए उसमें लोकोत्तर सत्य के सौन्दर्य का आभास देने की शक्ति महाकवि में ही होती है, निरे भक्त, उपदेशक और समाज सुधारक में नहीं।

सूरदास की भक्ति

सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उनके काव्य में वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित कृष्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा स्वाभाविक रूप से हुई है। सूरदास की

भक्ति में अंत:करण की प्रेरणा तथा अंतर की अनुभूति की प्रधानता है। उनके काव्य में अभिव्यक्त भक्ति-भावना के दो चरण देखे जा सकते हैं-

पहला चरण वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व का है, जिसमें सूरदास वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व दैन्यभाव पर आधारित भक्ति के पदों की रचना कर रहे थे।

दूसरा चरण वल्लभाचार्य से मिलने के बाद आरंभ होता है, जब सूरदास वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होकर पुष्टिमार्गीय भक्ति पर आधारित भक्ति के पदों की रचना की ओर प्रवृत हुए। सूरदास की भक्ति भावना में इस प्रकार के पदों का बाहुल्य देखा जा सकता है।

दास्य भाव भक्ति

भक्ति मूलत: भावोद्गार है। सूरदास ने अपनी भक्ति में ईश्वर के समक्ष अनेक प्रकार की विनय भावना व्यक्त की है। सूरदास ने स्वयं को अपने ईश्वर का तुच्छ सेवक मानते हुए उनके समक्ष दैन्य प्रकट किया है। इस कारण सूरदास की भक्ति 'दास्य भाव' की भक्ति कहलाती है, जिसमें भक्त स्वयं को अपने ईश्वर का दास मानकर उनकी सेवा और भक्ति करता है। इस संदर्भ में एक कहावत प्रचलित है कि सूरदास जब गाऊघाट पर रहते थे तो उन्हें वहां एक दिन वल्लभाचार्य के आने का पता चला।

मृत्यु

पारसौली वह स्थान है, जहाँ पर कहा जाता है कि कृष्ण ने रासलीला की थी। एक समय आचार्य वल्लभ, श्रीनाथ जी और गोसाई विट्ठलनाथ ने श्रीनाथ जी की आरती करते समय सूरदास को अनुपस्थित पाकर जान लिया कि सूरदास का अन्त समय निकट आ गया है। उन्होंने अपने सेवकों से कहा कि-'पुष्टिमार्ग का जहाज जा रहा है, जिसे जो लेना हो ले ले।' आरती के उपरान्त गोसाई जी रामदास, कुम्भनदास, गोविंदस्वामी और चतुर्भुजदास के साथ सूरदास के निकट पहुँचे और सूरदास को, जो अचेत पड़े हुए थे, चैतन्य होते हुए देखा। सूरदास ने गोसाई जी का साक्षात् भगवान के रूप में अभिनन्दन किया और उनकी भक्त वत्सलता की प्रशंसा की। चतुर्भुजदास ने इस समय शंका की कि सूरदास ने भगवद्यश तो बहुत गाया, परन्तु आचार्य वल्लभ का यशगान क्यों नहीं किया।

सूरदास ने बताया कि उनके निकट आचार्य जी और भगवान में कोई अन्तर नहीं है, जो भगवद्यश है, वही आचार्य जी का भी यश है। गुरु के प्रति अपना भाव उन्होंने 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' वाला पद गाकर प्रकट किया। इसी पद में सूरदास ने अपने को 'द्विविध आन्धरो' भी बताया। गोसाई विट्ठलनाथ ने पहले उनके 'चित्त की वृत्ति' और फिर 'नेत्र की वृत्ति' के संबंध में प्रश्न किया तो उन्होंने क्रमशः 'बलि बलि बलि हों कुमरि राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी' तथा 'खंजन नैन रूप रस माते' वाले दो पद गाकर सूचित किया कि उनका मन और आत्मा पूर्णरूप से राधा भाव में लीन है। इसके बाद सूरदास ने शरीर त्याग दिया।

व्यक्तित्व

सूरदास के काव्य से उनके बहुश्रुत, अनुभव सम्पन्न, विवेकशील और चिन्तनशील व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। उनका हृदय गोप बालकों की भाँति सरल और निष्पाप, ब्रज की गोपियों की भाँति सहज संवेदनशील, प्रेम-प्रवण और माधुर्यपूर्ण तथा नन्द और यशोदा की भाँति सरल-विश्वासी, स्नेह-कातर और आत्म-बलिदान की भावना से अनुप्रमाणित था। साथ ही उनमें कृष्ण जैसी गम्भीरता और विदग्धता तथा राधा जैसी वचन-चातुरी और आत्मोत्सर्गपूर्ण प्रेम विवशता भी थी। काव्य में प्रयुक्त पात्रों के विविध भावों से पूर्ण चरित्रों का निर्माण करते हुए वस्तुतः उन्होंने अपने महान् व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति की है।

विषेशता

उनकी प्रेम-भक्ति के सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों का चित्रण जिन आंख्य संचारी भावों, अनगिनत घटना-प्रसंगों बाह्य जगत् प्राकृतिक और सामाजिक-के अनन्त सौन्दर्य चित्रों के आश्रय से हुआ है, उनके अन्तराल में उनकी गम्भीर वैराग्य-वृत्ति तथा अत्यन्त दीनतापूर्ण आत्म निवेदात्मक भक्ति-भावना की अन्तर्धारा सतत प्रवहमान रही है, परन्तु उनकी स्वाभाविक विनोदवृत्ति तथा हास्य प्रियता के कारण उनका वैराग्य और दैन्य उनके चित्तकी अधिक ग्लानियुक्त और मलिन नहीं बना सका। आत्म हीनता की चरम अनुभूति के बीच भी वे उल्लास व्यक्त कर सके। उनकी गोपियाँ विरह की हृदय विदारक वेदना को भी हास-परिहास के नीचे दबा सकीं।

करुण और हास्य का जैसा एकरस रूप सूरदास के काव्य में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। सूर ने मानवीय मनोभावों और चित्तवृत्तियों को, लगता है, नि:शेष कर दिया है। यह तो उनकी विशेषता है ही, परन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता कदाचित यह है कि मानवीय भावों को वे सहज रूप में उस स्तर पर उठा सके, जहाँ उनमें लोकोत्तरता का संकेत मिलते हुए भी उनकी स्वाभाविक रमणीयता अक्षुण्ण ही नहीं बनी रहती, बल्कि विलक्षण आनन्द की व्यंजना करती है। सूर का काव्य एक साथ ही लोक और परलोक को प्रतिबिम्बित करता है।

9

नरसी मेहता के साहित्य में बिंब योजना

नरसी मेहता गुजराती भक्तिसाहित्य की श्रेष्ठतम विभूति थे। उनके कृतित्व और व्यक्तित्व की महत्ता के अनुरूप साहित्य के इतिहास ग्रंथों में 'नरसिंह-मीरा-युग' नाम से एक स्वतंत्र काव्यकाल का निर्धारण किया गया है जिसकी मुख्य विशेषता भावप्रवण कृष्णभक्ति से अनुप्रेरित पदों का निर्माण है। पदप्रणेता के रूप में गुजराती साहित्य में नरसी का लगभग वही स्थान है, जो हिंदी में सूरदास का। वैष्णव जन तो तैणे कहिए जे पीड पराई जाणे रे' पंक्ति से आरंभ होनेवाला सुविख्यात पद नरसी मेहता का ही है। नरसी ने इसमें वैष्णव धर्म के सारतत्वों का संकलन करके अपनी अंतर्दृष्टि एवं सहज मानवीयता का परिचय दिया है। नरसी की इस उदार वैष्णव भक्ति का प्रभाव गुजरात में आज तक लक्षित होता है।

पुष्टिमार्ग में नरसी को 'वधेयो' माना जाता है पर नरसी किसी संप्रदाय से संबद्ध प्रतीत नहीं होते। उनकी भक्ति भागवताश्रित थी। अन्यान्य लीलाओं की अपेक्षा कृष्ण की रासलीला नरसी का विशेष प्रिय थी और भावात्मक तादात्म्य की स्थित में उन्होंने अपने को 'दीवटियो' या दीपवाहक बनकर रास में भाग लेते हुए वर्णित किया है। वे गुजरात के सर्वाधिक लोकप्रि वैष्णव कवि

हैं तथा लोककल्पना में उनके जीवन से संबद्ध किंवदंतियों एवं चमत्कारिक घटनाओं के प्रति सहज विश्वासभावना मिलती है।

जीवनवृत्त

ऐतिहासिक दृष्टि से नरसी मेहता के जीवनकाल का निश्चय एक समस्या रही है। उनकी 'हारमाला' नामक कृति में दी गई तिथि सं. 1512 तथा वर्णित घटना से सिद्ध रा मांडलिक (सं. 1414 से 1480) की समकालीनता के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने उन्हें 15वीं शती ई. में रखा और बहुत काल तक 'वृद्धमान्य समय' (1414-81 ई.) निर्विवाद स्वीकृत किया जाता रहा, परंतुय क.मा. मुंशी ने अनेक तर्क वितर्कों द्वारा उसे अतिशय विवादास्पद बना दिया। उनके अनुसार चैतन्य के प्रभाव के कारण नरसी मेहता का समय 1500-1580 ई. से पूर्व नहीं माना जा सकता। यद्यपि गुजराती के अनेकानेक मान्य विद्वानों ने इस विवाद में भाग लिया है तथापि वह अब भी प्रायः अनिर्णीत ही है। उनकी रचनाओं में जयदेव, नामदेव, रामानंद और मीरा का उल्लेख मिलता है।

नरसी मेहता का जन्म जूनागढ़ के समीपवर्ती 'तलाजा' नामक ग्राम में हुआ था और उनके पिता कृष्णदामोदर वडनगर के नागरवंशी कुलीन ब्राह्मण थे। उनका अवसान हो जाने पर बाल्यकाल से ही नरसी को कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ा। एक कथा के अनुसार वे आठ वर्ष तक गूंगे रहे और किसी कृष्णभक्त साधु की कृपा से उन्हें वाणी का वरदान प्राप्त हुआ। साधु संग उनका व्यसन था। उद्यमहीनता के कारण उन्हें भाभी की कटूक्तियाँ सहनी पड़तीं और अंततः गृहत्याग भी करना पड़ा। विवाहोपरांत पत्नी माणिकबाई से कुँवर बाई तथा शामलदास नामक दो संतानें हुई। कृष्णभक्त होने से पूर्व उनके शैव होने के प्रमाण मिलते हैं। कहा जाता है, 'गोपीनाथ' महादेव की कृपा से ही उन्हें कृष्णलीला का दर्शन हुआ, जिसने उने जीवन को सर्वथा नई दिशा में मोड़ दिया। गृहस्थ जीवन में चमत्कारिक रूप से अपने आराध्य की ओर से सहायता प्राप्त होने के अनेक वर्णन उनकी आत्मचरितपरक कई रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

इसी तरह भगवान ने कई बार नरसीला की मदत की। इनमें 'हुंडी', 'झारी', 'मामेरु' और 'हार' का प्रसंग सर्वप्रमुख है। 'ढेढ' प्रसंग भी नरसी की जीवनी में यथेष्ट महत्त्व रखता है, क्योंकि उसके फलस्वरूप उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। वे स्त्री और शूद्र को भक्ति का अधिकारी समझते थे

जिसके कारण समस्त नागर जाति उनसे क्षुब्ध हो गई थी। नरसी ने अपनी अंतर्वृत्ति का बाह्य प्रभावों से कुंठित नहीं होने दिया। यह उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है।

आप घर के काम काज में बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते थे। सारा समय कृष्ण भक्ति में ही लगे रहते। आप के भाई ने आप की शादी मानेकबाई से कार दी ताकि आप घर की जिम्मेदारी सँभालने लगें, लेकिन शादी से भी नरसिंह को कोई फरक नहीं पडा।

नरसिंह मेहता की भाभी आप को बहुत भला बुरा कहती थी। एक दिन भाभी की बातों से तंग आकर आप जंगल चले गए और बिना खाए पिये 7 दिन तक शिवजी के मंदिर में आराधना की। भगवान शिव एक साधु के रूप में प्रगट हुए। नरसिंह जी के अनुरोध पर भगवान शिव आप को बृन्दावन में रास लीला दिखाने को ले गए। आप रास लीला देखते हुए इतने खो गए की मशाल से अपना हाथ जला बेठे। भगवान कृष्ण ने अपने स्पर्श से हाथ पहले जैसा कर दिया और नरसिंह जी को आशीर्वाद दिया। घर आकर आप ने भाभी का धन्यवाद किया।

एक समय नरसिंह और उनके भाई तीर्थ यात्रा पर जाते समय एक जंगल में से गुजर रहे थे। दोनों बहुत थक चुके थे और भूख भी बहुत लगी थी। कुछ दुरी पर एक गाँव दिखाई दिया। उस गाँव के कुछ लोग इन दोनों के पास आए और कहा की अगर आप कहें तो हम आप के लिये खाना ले आते हैं, पर लेकिन हम शुद्र (नीच) जाती के हैं। नरसिंह जी ने उन्हें कहा की सभी परमेश्वर की संतान हैं। आप तो हरि के जन हैं मुझे आप का दिया भोजन खाने में कोई आपत्ति नहीं। नरसिंह ने खुशी से भोजन खाया, लेकिन उनके भाई ने भोजन खाने से इनकार कार दिया। चलने से पहले नरसिंह जब गाँव वालों का धन्यवाद करने के लिये उठे तो उन्हें कहीं भी गाँव नजर नहीं आया।

आचार्य श्री गरीब दास महाराज जी ने भक्त माल में नरसिंह मेहता जी के साथ हुए दो घटनाओं का वर्णन किया है।

साँवल शाह की घटना

आये हैं साधु नरसीला के पास। हुंडी करो नै नरसीला जो दास ॥ 55॥
पाँच सौ रूपये जो दीन्हें जो रोक। करो बेग हुंडी द्वारा नाथ पोष ॥ 56॥
सड़ सड़ लिखी बेग कागज मंगाय। टीके दिया शाह साँवल चढाय॥ 57॥

द्वारा नगर बीच पौहंचे हैं संत। पाया न साँवल लिया है जु अंत॥ 58॥
द्वारा नगर के जु बोले बकाल। नहीं शाह साँवल नरसीला घर घाल॥ 59॥
करी है जु करुणा अबरना आनंद। भये शाह साँवल जो साहिब गोविन्द ॥60॥
चिलकी करारे हजारे हजार। दिने दुचंद जो साँवल मुरार॥ 61॥
दोहरी कलम टांक बहियां बिनोद। भये शाह साँवल नरसीला प्रमोध॥ 62॥
चौरे गिने बेग पल्ला बिछाय। देखैं द्वारा नगर के सकल शाह ॥ 63 ॥
खरचे खाये संतौं किन्हें मुकाम। द्वारा नगर बीच दीन्हें जु दाम ॥ 64 ॥
साँवल शाह संतौं से किन्हा बसेख। नरसीला से बन्दगी हुंडी ध्यों अनेक ॥65॥

पहली नरसीला नै दीन्हा भंडार। पीछे साँवल शाह पौहंचे पुकार ।। 66।।

एक बार द्वारका को जाने वाले कुछ साधु नरसिंह जी के पास आए और उन्हें पाँच सौ रूपए देते हुए कहा की आप काफी प्रसिद्ध व्यक्ति हो आप अपने नाम की पाँच सौ रुपयों की हुंडी लिख कर दे दो हम द्वारका में जा कर हुंडी ले लेंगे। पहले तो नरसिंह जी ने मना करते हुए कहा की मैं तो गरीब आदमी हूँ, मेरे पहचान का कोई सेठ नहीं जो तुम्हे द्वारका में हुंडी दे देगा, पर जब साधु नहीं माने तो उन्हों ने कागज ला कर पाँच सौ रूपये की हुंडी द्वारका में देने के लिये लिख दी और देने वाले (टिका) का नाम साँवल शाह लिख दिया।

(हुंडी एक तरह के आज के डिमांड ड्राफ्ट के जैसी होती थी। इससे रास्ते में धन के चोरी होने का खतरा कम हो जाता था। जिस स्थान के लिये हुंडी लिखी होती थी, उस स्थान पर जिस के नाम की हुंडी हो वह हुंडी लेन वाले को रोख दे देता था।)

द्वारका नगरी में पहुँचने पर संतों ने सब जगह पता किया, लेकिन कहीं भी साँवल शाह नहीं मिले। सब कहने लगे की अब यह हुंडी तुम नरसीला से हि लेना।

उधर नरसिंह जी ने उन पाँच सौ रुपयों का सामान लाकर भंडारा देना शुरू कर दिया। जब सारा भंडारा हो गाया तो अंत में एक वृद्ध संत भोजन के लिये आए। नरसिंह जी की पत्नी ने जो सारे बर्तन खाली किये और जो आटा बचा था उस की चार रोटियां बनाकर उस वृद्ध संत को खिलाई। जैसे ही उस संत ने रोटी खाई वैसे ही उधर द्वारका में भगवान ने साँवल शाह के रूप में प्रगट हो कर संतों को हुंडी दे दी।

आचार्य जी अन्देव की छोटी आरती में भी इस बात का प्रमाण देते हैं। जैसे

रोटी चार भारजा घाली, नरसीला की हुंडी झाली।
(भारजा–पत्नी, घाली–डाली, देना, झाली–हो गई)

साँवल शाह एक सेठ का भेष बनाकर संतों के सामने आए। और भरे चौक में संतों को हुंडी के रूपये दिये। द्वारका के सभी सेठ देखते ही रह गये।

शादी की घटना

बेटी नरसीला की भेली चढ़ाय। चालो पिता तेरी ध्योती का व्याह ।। 67।।
मैं निर्धन भिखारी नहीं मेरै दाम। आऊंगा बेटी मैं सुमरुन्गा राम ।। 68 ।।
नरसीला खाली गये पल्ला झार। आगे खरी एक समधनि उजार ।। 69 ।।
भातई आये हैं जो धी के पिता। करुवे के घाल्या जु हम कूं बता ।। 70।।
समधनि कहै सखियों मैं सुनाय। दो भाठे घाले हैं करुवे पिताय ।। 71 ।।
नरसीला सुनि कर जो हुए आधीन। लज्जा राखो मेरे साहिब प्रबीन ।। 72।।
आये विश्वम्भर जो गाडे लदाय। ल्याये माल मुक्ता जो कीन्ही सहाय ।। 73 ।।
सुहे जरीबाब मस–अपार। गहना सुनहरी और मोती हजार ।। 74 ।।
हीरे हरी भांति लाली सुरंग। चाहै सु देवै छुटी धार गंग ।। 75 ।।
नगदी और जिनसी खजानें मौहर। उतरैं जरीबाब झीनी दौहर ।। 76 ।।
चुन्नरी चिदानन्द ल्याये अनूप। झालर किनारी जरीदार सरूप ।। 77 ।।
समधनि सुलखनी खरी है जु पास। भरे भात नरसी जो हीर्यो निवास ।। 78 ।।
घोरे तुरंगम दिये हैं जो दान। अरथ बहल पालकी किये हैं कुर्बान ।। 79 ।।
कलंगी रु झब्बे सुनहरी हमेल। हीरे जड़ाऊँ मोती रंगरेल ।। 80 ।।
नरसी अरसी है समुद्र में सिर। गैबी खजाने अमाने जो चीर ।। 81 ।।
भाठे परे दोय धूं धूं धमाक। देखें दुनी चिश्म खौलै जो आँख ।। 82 ।।
चांदी सोने के हैं भाठे जु दोय। समधनि लिया मुख उलटाई गोय ।। 83 ।।

भेली–गुड की डली (शगुन के तोर पर दी जाती थी। जैसे आज कल कार्ड के साथ मिठाई का डिब्बा देते है।)

समधनि–कुडमनी (बेटीध्बेटे की साँस)

भातई–मामा

भात–नानकशक (लड़की या लड़के के विवाह में नाना ध मामा की तरफ से दि जाने वाली सामग्री)

करुवे–कन्यादान

भाठे–मिट्टी के ठेले या बर्तन,

एक समय नरसिंह की ध्योती की शादी थी। नरसिंह की लड़की उन्हें शगुन के तोर पर गुड देते हुए बोली की पिता जी आप ने शादी में जरुर आना है। नरसिंह बहुत गरीब थे उन्होंने कहा की बेटी मेरे पास तो शादी में देने के लिये कुछ भी नहीं है। मैं आ जाऊंगा, लेकिन भगवान का नाम ही लूँगा। जब नरसिंह जी ध्योती की शादी में पहुंचे तो किसी स्त्री ने उन की समधनि ने पूछा की लड़की के मामा और नाना में आये है, उन्होंने कन्यादान में क्या दिया है। आगे से समधनि ने मजाक में कह दिया की दो भाठे दिये हैं।

यह सुन कर नरसिंह शर्मिंदा हो गये और भगवान को याद कर उन्हें उसकी इज्जत बचाने को कहने लगे। तभी भगवान बैल गाडी लाद कर सामान की लाए। भगवान लड़की के लिये लाल सूट, चुनरी, विवाह की सारी जरी (कपडे), गहना, मोती, हीरे, घोड़े, पालकी तथा अनेक तरह के उपहार ले कर आए। नरसिंह जी ने खुशी खुशी भात (नानकशक) दिया। तभी दोनों भाठे धूं धूँ कर टूट गये और सभी देख कर हैरान रह गये की दोनों भाठे सोने और चांदी से भरे थे। और इस तरह भगवान ने अपार सामग्री देकर अपने प्रिय भगत नरसिंह की लाज रख ली।

रचनाएँ

विषय और वस्तु की दृष्टि से नरसी की समस्त रचनाएँ मुख्यत: दो वर्गों में रखी जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में 'सामलदासनो विवाह' तथा 'हारमाला' की गणना की जाएगी। इनमें कवि ने अपने जीवन की किसी अलौकिक घटना का वर्णन किया है। दूसरे वर्ग में निम्नलिखित नौ रचनाएँ आती हैं, जिनकी सृष्टि पूर्णतया कृष्णचरित को आलंबन मानकर की गई है–

1. सुरत संग्राम
2. गोविंदगमन
3. चातुरीछब्बीसी
4. चातुरी षोडशी
5. दाणलीला

6. सुदामाचरित
7. राससहस्त्रपदी
8. श्रृंगारमाला
9. बाललीला।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रकीर्णक पद 'हींडोलाना पदो', 'भक्तिज्ञानानां पदो' 'कृष्णजन्मसमेनां पदो', 'कृष्णजन्मबधाईनां पदो' तथा 'वसंतनां पदो' नाम से संगृहीत मिलते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि श्रृंगारिक प्रकृति वर्णन, वात्सल्य भाव तथा ज्ञान प्रधान भक्ति की ओ नरसी की विशेष प्रवृत्ति थी। पूर्वोक्त सभी रचनाएँ नरसिंह मेहता कृत 'काव्यसंग्रह' नाम से एक साथ प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त इनका प्रकाशन 'बृहत् काव्यदोहन' 'प्राचीन काव्य त्रैमासिक' तथा 'प्राचीन काव्य सुधा' आदि में भी हुआ है। मुंशी द्वारा उल्लिखित 'नागदमन' और 'मानलीला' शीर्षक रचनाएँ स्वतंत्र कृतियाँ न होकर विषय विशेष के पदसंग्रह मात्र हैं। के.का. शास्त्री ने हस्तलिखित ग्रंथों की शोध के आधार पर और भी अनेक कृतियों का नामोल्लेख किया है, जिनमें अधिकांश पदसंग्रह मात्र हैं। 'सूरत संग्राम' और 'गोविंदगमन' नाम रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध मानी जाती है।

कृष्णभक्ति

कोई काम न करने पर भाभी उन पर बहुत कटाक्ष करती थी। एक दिन उसकी फटकार से व्यथित नरसिंह 'गोपेश्वर' के शिव मंदिर में जाकर तपस्या करने लगे। मान्यता है कि सात दिन के बाद उन्हें शिव के दर्शन हुए और उन्होंने कृष्ण की भक्ति और रासलीला के दर्शनों का वरदान माँगा। इस पर द्वारका जाकर रासलीला के दर्शन हो गए। अब नरसिंह का जीवन पूरी तरह से बदल गया। भाई का घर छोड़कर वे जूनागढ़ में अलग रहने लगे। उनका निवास स्थान आज भी 'नरसिंह मेहता का चौरा' के नाम से प्रसिद्ध है। वे हर समय कृष्णभक्ति में तल्लीन रहते थे। उनके लिए सब बराबर थे। छुआछूत वे नहीं मानते थे और हरिजनों की बस्ती में जाकर उनके साथ कीर्तन किया करते थे। इससे बिरादरी ने उनका बहिष्कार तक कर दिया, पर वे अपने मत से डिगे नहीं। पिता के श्राद्ध के समय और विवाहित पुत्री के ससुराल उसकी गर्भावस्था में सामग्री भेजते समय भी उन्हें दैवी सफलता मिली थी। जब उनके पुत्र का विवाह बड़े नगर के राजा के वजीर की पुत्री के साथ तय हो गया। तब भी

नरसिंह मेहता ने द्वारका जाकर प्रभु को बारात में चलने का निमंत्रण दिया। प्रभु श्यामल शाह सेठ के रूप में बारात में गए और 'निर्धन' नरसिंह के बेटे की बारात के ठाठ देखकर लोग चकित रह गए। हरिजनों के साथ उनके संपर्क की बात सुनकर जब जूनागढ़ के राजा ने उनकी परीक्षा लेनी चाही तो कीर्तन में लीन मेहता के गले में अंतरिक्ष से फूलों की माला पड़ गई थी। निर्धनता के अतिरिक्त उन्हें अपने जीवन में पत्नी और पुत्र की मृत्यु का वियोग भी झेलना पड़ा था। पर उन्होंने अपने योगक्षेम का पूरा भार अपने इष्ट श्रीकृष्ण पर डाल दिया था। जिस नागर समाज ने उन्हें बहिष्कृत किया था, अंत में उसी ने उन्हें अपना रत्न माना और आज भी गुजरात में उनकी वह मान्यता है।

❐❐❐